सोमसी

जनवरी 89

हिमाचल कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी

tharahkardu.in

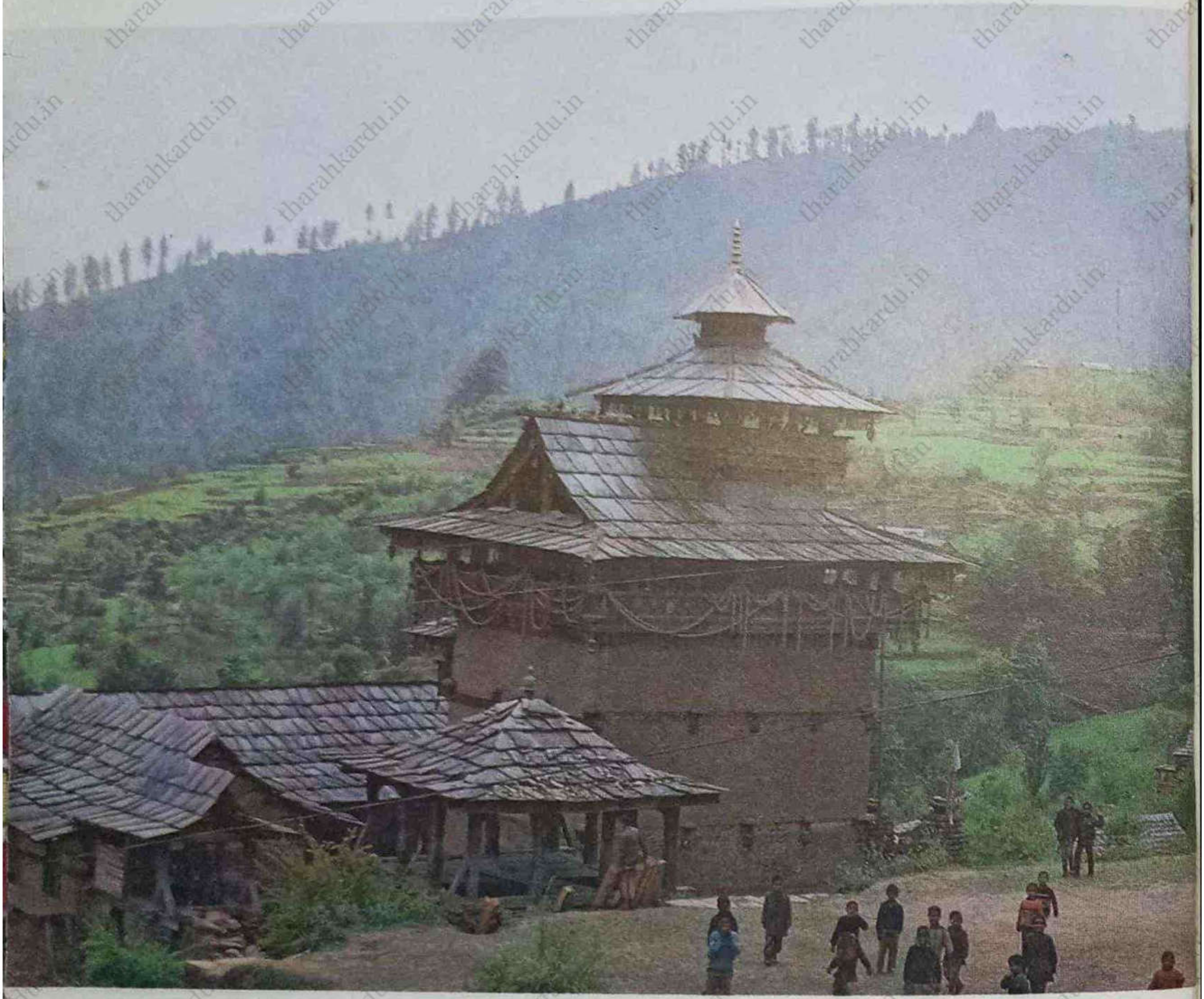

आवरण पृष्ठ - जिला कुल्लू के प्रवेश द्वार बजोरा में स्थित
ऐतिहासिक शिव मन्दिर।

ऊपर का चित्र - देव मन्दिर।

वर्ष 15 अंक 1 पूर्णांक 57
जनवरी 1989 पौष, माघ वि0 2045

सोमसी

सम्पादक
डॉ० बंशीराम शर्मा

पर्वतीय कला, संस्कृति और साहित्य की
त्रैमासिक शोध पत्रिका

हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी
संगरमल भवन, क्लिफ एण्ड एस्टेट, शिमला-171 001

सम्पादकः डॉ0 बंशीराम शर्मा
सचिव
हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी,
शिमला- 171001

त्रैमासिकः जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्तूबर में प्रकाश्य

अंकः जनवरी, 1989

सम्पादन सहयोगः सरोज सांख्यायन
उपसम्पादकः जयन्ती चौहान
प्रूफ शोधनः निर्मल कौशल

आवरण एवं पारदर्शियांः हिमाचल अकादमी,

वार्षिक मूल्यः 12/-
एक प्रतिः : 3/-

प्राप्ति स्थानः

हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी
संगरमल भवन, क्लिफ एण्ड एस्टेट, शिमला-171 001

विषयानुक्रमणिका

क्र स0	लेख	लेखक	पृष्ठ
	सम्पादकीय		
1	युद्ध लोकनाट्य ठोडा	मौलूराम ठाकुर	1-10
2	विलासपुर क्षेत्र में भगत का स्वरूप	डॉ0 अनिता शर्मा	11-15
3	पश्चिमोतर हिमालय के कुछ प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर तथा अन्य धार्मिक स्थान	बलराम	16-34
4	हिमाचल का हिन्दी उपन्यास - एक सर्वेक्षण	डॉ0 सुशील कुमार फुल्ल	35-52
5	यशपाल जी का मैं और मेरा परिवेश	डॉ0 ब्रह्मदत शर्मा	53-57
6	माघी	सुदर्शन डोगरा	58-63
7	माण्डव्य ऋषि की तपोभूमि	डॉ0 विद्याचन्द ठाकुर	64-66
8	विजयेश्वर विश्वास	डॉ· विद्या शरदा	67-70
9	हिमाचली लोकोक्तियों में लोकजीवन		71-75
10	कैलंग का शेशुर गोम्पा §प्रलेखन§	रमेश जसरोटिया	76-78
11	अकादमी की गतिविधिया		79-81

सम्पादकीय

हिमाचल प्रदेश का सांस्कृतिक इतिहास लोक नाट्यों की विभिन्न परम्पराओं से संपृक्त है। जहां हिमाचल में रामायण और महाभारत कालीन पुरातात्विक अवशेष प्राचीन मन्दिरों व मूर्तियों व कतिपय सामाजिक प्रथाओं के रूप में प्राप्त होते हैं वहां महाभारतकालीन युद्ध परम्पराओं का प्रभाव "ठोड़ा" जैसे लोकनाट्यों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हिमाचली लोकनाट्यों की श्रृंखला में करियाला, भगत, ठोड़ा, बुढडा, हरण और बांठड़ा आदि प्रमुख हैं। ये लोकनाट्य हास्य प्रधान होने के साथ-साथ सामाजिक व धार्मिक परिवेश में फैली कुरीतियों एवम् विसंगतियों की ओर भी दर्शकों को आकर्षित करते हैं। यही कारण है कि आज भी इस पारम्परिक धरोहर का प्रचलन पूर्ववत् है। समसामयिक समस्याओं से जनसाधारण को अवगत कराना और जनमानस का मनोरंजन इन लोकनाट्यों का प्रमुख ध्येय रहा है।

सोमसी अक्तूबर 66 अंक §लोकनाट्य विशेषांक§ में हिमाचल में प्रचलित लोक-नाट्यों पर ऐतिहासिक सांस्कृतिक व सामाजिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध करवाईगई थी। जिसका पाठकों ने भरपूर स्वागत किया है। पाठकों के अनुरोध पर प्रस्तुत अंक में भी ठोड़ा और भगत पर प्रामाणिक सामग्री प्रकाशित की जा रही है। इसके उपरान्त भी कुछ विद्वानों ने लोकनाट्यों पर अत्यन्त उपयोगी लेख प्रेषित किये हैं जिन्हें देरी से मिलने के कारण चाहते हुए भी इस अंक में शामिल नहीं किया जा सका।

महाभारत के विशाल युद्ध से हिमाचल की यह भूमि भी पूर्ण रूप से जुड़ी रही है। त्रिगर्त नरेश सुशर्मा का गाण्डीवधारी अर्जुन के साथ वीरतापूर्वक युद्ध करके वीरगति को प्राप्त होना इसकी ऐतिहासिकता को और भी पुष्ट करता है। आज भी हिमाचल में महाभारत कालीन किन्नर, खश आदि जातियां विद्यमान हैं जो कि इस देवभूमि के उज्जवल अतीत की साक्षी हैं।

श्री मौलूराम ठाकुर ने अपने लेख युद्ध लोक नाट्य ठोड़ा में इस लोकनाट्य की ऐतिहासिकता, आयोजन तथा सम्वादों का प्रामाणिक उल्लेख किया है।

सौ कौरव भाइयों के सन्दर्भ तथा नाम महाभारत में उपलब्ध हैं, परन्तु हिमालय के क्षेत्रों में प्रचलित आवदानों में, उनकी संख्या साठ क्यों मानी गई है ? यह शोध का विषय है। लोकनाट्य की अपेक्षा पारम्परिक खेल अधिक है, परन्तु इसमें भाग लेने वाले दोनों दल नाचते हुए गीत गाते हैं और दूसरे पक्ष को ललकारते हुए उंची आबाजें लगाते हैं। अतः इसे लोकनाट्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है। हमारा प्रयास है कि प्रदेश के लोकनाट्यों पर शोधपूर्ण सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत की जाए। इसके लिये विज्ञपाठक वर्ग से सहयोग की उपेक्षा रहेगी।

"सोमसी" के इस अंक में पश्चिमी हिमालय की संस्कृति, बौद्ध स्थानों के सम्बन्ध में रोचक तथा ज्ञानवर्धक सामग्री प्रकाशित की गई है। इस सामग्री के प्रस्तुत-कर्ता श्री बलराम ने परिश्रमपूर्वक इस विषय पर प्रकाश डाला है। डॉ0 सुशील कुमार फुल्ल का लेख "हिमाचल का हिन्दी उपन्यास - एक परिचय" प्रदेश के उपन्यासकारो के योगदान का सर्वेक्षण है: समीक्षा की कड़ी को डॉ0 ब्रह्मदत शर्मा ने यशपाल का "मैं और मेरा परिवेश" लेख में रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। श्रीमति सुदर्शन डोगरा का "माघी" पर लैख लोक साहित्य के संकलन का अच्छा प्रयास है। डॉ0 विद्या चंद ठाकुर द्वारा लिखित लेख "माण्डव्य ऋषि की तपो भूमि" ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। डॉ0 विद्या शारदा के लेख "विजयेश्वर विश्वास" में भी पठनीय सामग्री उल्लिखित है। अकादमी प्रलेखन के अर्न्तगत श्री रमेश जसरोटिया द्वारा प्रस्तुत आलेख "केलंग का शेशुर गोम्पा" भी पठनीय है।

इस प्रकार पत्रिका का प्रस्तुत अंक अनेक दृष्टियों से संग्रहणीय है और आशा है कि विद्वान पाठक इसे पसन्द करेंगें।

"सोमसी" के अकों के प्रकाशन में विलम्ब के लिये हमें अपने ग्राहकों तथा सहृदय पाठकों से क्षमा याचना करनी पड़ रही है। यत्न करने पर भी हम समय पर अंक उपलब्ध नही करवा पाए इसका मुख्य कारण मुद्रण सम्बन्धी कठिनाइयां रही हैं। पत्रिका के अगले अंको के प्रकाशन की व्यवस्था नये मुद्रक को सौंपी गई है। आशा है कि पत्रिका के अगले अंक पाठको तक समय पर पहुंच सकेंगे। स्तरीय रचनाओं का पत्रिका में स्वागत है।

डॉ0 वंशीराम शर्मा

लोकनाट्य परिशिष्ट:–

युद्ध लोकनाट्य – ठोडा

मौलूराम ठाकुर

पहाड़ी में एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि "पीपली रा मसाला ठोडा रा खेल।" जैसे मिर्च का स्वाद मुंह जला कर भी विशिष्ट रहता है और मिर्च-मसाला के बिना दाल-सब्जी स्वादिष्ट बनती ही नहीं है तथा बहुत लोगों को ऊपर से अलग मिर्च खा कर भी जीभ जलाए बिना खाने में स्वाद नहीं आता, उसी तरह ठोडा में तीर की मार खाकर भी इस खेल का आनन्द दुगुना-चौगुना होता है और यह खेल देखने वालों के लिए भी उतना ही मनोरंजक होता है जितना मार खाने और मारने वालों के लिए ओजोत्पादक ।

देवता के मन्दिर के सामने का खुला आंगन या गांव के निकट खुला स्थान इस खेल का मंच होता है । इसे जुबड़ या जुबड़ी कहते हैं अर्थात् दूब(स0दूर्वा) का हरा-भरा मैदान । खेल आरम्भ होने से पूर्व कलाकार इस जुबड़ की वन्दना करते हैं और अनेक ढंग से इसका आह्वान करते हैं, यथा--

फूले मेरी जुबड़ीए सूईने रे फूले
या
छिंछड़ी जेई फूले मेरी जुबड़ीए ।

अर्थात् खिल मेरी जुबड़ी सोने के फूल की तरह खिल, या छिंछुड़ी(एक विशेष झाड़ी जिसमें घने सुन्दर फूल लगते हैं) की तरह खिल मेरी जुबड़ी। सोलन का बड़ा मैदान इसी खेल के कारण 'ठोडा-ग्रौंड' के नाम से प्रसिद्ध है, उसे अब जुबड़ या जुबड़ी नहीं कहते और न ही अब यह ठोडा का स्थान ही रहा है । देवताओं के प्रांगण में आयोजित होने और अनेक बार देवताओं के मेलों में ठोडे के खेले जाने के कारण कुछ विद्वानों ने इसे धार्मिक आस्था से जोड़ने के प्रयत्न किए हैं। परन्तु ऐसा विचार निराधार है । लोक-नाटक तो प्रायः मेलों और अन्य उत्सवों पर ही आरम्भ से आयोजित होते रहे हैं। ठोडा आज पूर्णतया एक लोक-नाट्य है यद्यपि यह भी सत्य है कि कई बार इस खेल ने युद्ध या लड़ाई का रूप भी धारण किया है ।

प्रस्तुत लेख, लेखक की पुस्तक "हिमाचल के लोक नाट्य और लोकानुरंजन से लिया गया है ।

आचार्य तुलसी रमण के अनुसार"ठोडा जहां खेल के रूप में प्रसिद्ध है वहां नृत्य तथा नाट्य भी है । इसमें खेल होता है धनुष-बाण का, नाच उठते है खिलाड़ियों ‹योद्धाओं› के वीर रस से प्रफुल्लित विशाल वक्षस्थल तथा बलिष्ठ भुजदण्ड । नाट्य होता है महाभारत धर्मयुद्ध का । घूंड, ठलोग, धवास शिरगूली, कुपनी, धार, ठियोग, पुड़ग, शवाला नेहरा तथा भखोग इत्यादि अनेक स्थानों का ठोडा खेल बहुत प्रसिद्ध है। इस खेल को ठोडा, ठोठा, ठठेर, ठडेर या ठड्डर भी कहते हैं । ठोडा खेलने वाला ठडियार, ठठियार कहलाता है ।[1]

उपकरण :

मूलतः यह धनुर्विधा का एक उत्कृष्ट खेल है । खेल में प्रयोग में लाए जाने वाले कमान को धणु या धनु‹सं0धनुष› और तीर को शौरी या शरी‹सं0 शर› कहते हैं । धनु प्रायः चांवा नामक स्थानीय विशेष लकड़ी का बना होता है जिसकी लम्बाई डेढ मीटर से 2 मीटर तक होती है । लम्बाई खेलने वालों के कद पर निर्भर करती है । परन्तु लम्बाई प्रायः डेढ मीटर से कम और 2 मीटर से अधिक नहीं होती । तीर नगाली ‹उच्चारण नर्गाल या नर्गाली भी› अथवा फिल्ले‹या फिर्ल› लकड़ी का बना होता है। इसकी लम्बाई धनु के अनुपात में एक से डेढ मीटर तक होती है । यह लकड़ी बीच से खोखली होती है और बांस की एक स्थानीय किस्म है। इस नगाली के एक ओर के खुले मुंह में से लगभग 10-12 सेंटीमीटर का एक और लकड़ी का टुकड़ा लगाया जाता है । यह एक ओर से पतला और तीखा होता है जो नगाली के छेद में से गुजारा जाता है । दूसरी ओर यह चपटा होता है ताकि जब वह प्रतिद्वन्दी की टांग में लगे तो बहुत गहरी चोट न पहुंचाएं । इसी लकड़ी को ठोडा कहते हैं । यह साधारण खेल का यन्त्र है। जहां दो व्यक्तियों के बीच प्रतिद्वन्दिता कई वर्षों से चल रही है और दोनों धनुर्विधा के महारथी हों तो नगाली के आगे तेज मुंह वाली लकड़ी का ठोडा भी होता है। प्रायः देखने में आया है कि दोनों दलों के नेताओं के बीच खेल में ठोडा तीखी लकड़ी का ही होता है और अन्य जोड़ियां साधारण लकड़ी के ठोडे से खेलती हैं । वस्तुतः ठोडा दो तरह का होता है- साधारण और कऊड़ । कऊड़ खेल में ठोडे का सिरा तीखा होता है । कई बार खेलते-खेलते ठोडा निकल जाता है तब नगाली की शौरी या याशरी शरीर बींध देती है। कई स्थानों पर कऊड़ का मतलब टांगों में पतला कपड़ा पहन कर खेलने से होता है। वहां साधारण ठोडे में कई तह मोटे कपड़े का पाजामा पहना जाता है। साधारण शब्दों में कऊड़ का अर्थ एक-तह और दोबड़ का अर्थ दो-तह या दो-बल है । तीर-कमानों का प्रबन्ध या तो उस दल को करना होता है जो दूसरी पार्टी को आमन्त्रित करता है या बुलाए गये दल अपने साथ ही सामान लेकर आते हैं। एक दल में लोगों की संख्या 500 तक हो सकती है ।

1. कुल्लु दशहरा स्मारिका 1979, पृष्ठ 28, "मेले मिलन के"।

खेल आरम्भ होने से पहले प्रतिद्वन्द्वी दलों के खिलाड़ियों की जोड़ियां मिलाई जाती हैं। यह खेल प्रायः दो दलों के बीच होता है जिन्हें "खूंद" (सं0 खण्ड) कहते हैं। दोनों खूंद अलग-अलग नाम से पुकारे जाते हैं। इनमें से एक को 'शाठा' और दूसरे को 'पाशा' कहते हैं। शाठा को शाठी, शाठड़, शठड़े और पाशा को पाशी, पाशड़, पाठा, पाठड़, पाठड़े भी कहते हैं। लोक-धारणा के अनुसार पाशे महाभारत के पाण्डवों के वंशज हैं और शाठे कौरवों की सन्तान हैं। महाभारत में कौरवों की संख्या सौ बताई गई परन्तु हिमाचल की लोक-संस्कृति और जन-श्रुति के अनुसार इनकी संख्या साठ थी। इसीलिए साठ की सन्तान शाठे या शाठड़ कहलाए। इसका अर्थ यह हुआ कि कौरव साठ भाई थे, सौ नहीं। पाण्डव लोक-धारणा में भी पांच ही रहे। इसलिए पंज या पांच से पाशी कहलाए। ठोडा खेल का शाठा पक्ष कौरव दल है जिनकी संख्या साठ है, और पाशा दल की संख्या पांच है परन्तु ठोडा खेल खेलते हुए इसकी संख्या साठ और पांच हो ऐसी बात नहीं है। खेलने वालों की संख्या हमेशा बराबर रहती है।

महाभारत का युद्ध धनुष-बाणों के आधार पर लड़ा गया था और यह भी सत्य है कि यह युद्ध मूलतया द्वन्द्वयुद्ध था। यह प्रथा हिमाचल के ठोडा लोक-नाट्य में अक्षुण्ण प्रचलित रही है। यहां भी केवल दो खिलाड़ियों का पारस्परिक खेल होता है। भले ही मैदान में बीस खिलाड़ी उतरे हों परन्तु प्रत्येक केवल अपने प्रतिद्वन्द्वी से ही लड़ता है। कोई किसी तीसरे पर धणु और शरी से वार नहीं करता। ठोडा खेल की प्रकृति से इस बात पर सन्देह किया जा सकता है कि यह आदिकाल से ही एक लोक-नाट्य रहा हो। निश्चय ही ठोडा प्राचीनकाल में उन जातियों का वास्तविक युद्ध प्रशिक्षण रहा है जिन्होंने महाभारत के युद्ध में भाग लिया। यह उल्लेखनीय है कि ठोडा लोक-नाट्य की प्रथा हिमाचल प्रदेश के केवल खश राजपूतों में ही प्रचलित है और शेष जातियां इसमें देखने का आनन्द लेने के सिवाय अन्यथा भाग नहीं लेती तथा साहित्य इस बात का साक्षी है कि खश एक पूर्व-आर्य प्रसिद्ध वीर जाति रही है और उसने महाभारत युद्ध में सक्रिय भाग लिया है। विष्णु पुराण में खशों को कश्यप की सन्तान कहा गया है। महाभारत के सभापर्व (52/1-4 के अनुसार वे शैलोदा नदी के आसपास के क्षेत्र के शासक थे और पिपीली स्वर्ण का उपहार लेकर युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित हुए थे और द्वार को घेरे प्रणत खड़े थे परन्तु महाभारत युद्ध में वे कौरवों का पक्ष लेकर पाण्डवों से लड़े थे (द्रोण0 121/43)। भागवतपुराण में खशों का नाम उत्तर-पश्चिमी भारत के निवासियों में यवनों के साथ आया है। मार्कण्डेय पुराण उन्हें शक जातियों के साथ पर्वतीय निवासी मानता है।

स्पष्ट है कि आजकल हिमाचल प्रदेश के खश लोगों द्वारा प्रदर्शित लोक-नाट्य 'ठोडा' मूल में उनके युद्ध-प्रशिक्षण का अवशेष है। डॉ0 सत्येन्द्र का कथन है कि युद्ध नाट्य-युद्ध-नृत्य यों तो जीवन्त-जीवन के स्फुरणों की ही अभिव्यक्ति है पर इनके तीन अभिप्राय या

उपयोग माने गए हैं --§क§ यह जातीय घनिष्ठता की सम्बर्दना करता है, §ख§ शौर्य तेज के प्रदर्शन द्वारा यौन अभिप्राय से योग्य वरण में सहायक होता है, और §ग§ कृषि सम्बन्धी अनुष्ठानों से प्रतीकतःसम्बन्ध जोडता है[1]।"ठोडा लोक-नाट्यके सम्बन्ध में यह मान-दण्ड शतशःसत्य उतरते हैं। हिमाचल प्रदेश के खश राजपूतों ने अपने खून्दों के अन्तर्गत शाठी और पाशी के बीच ठोडा युद्ध-नाट्यों के दारा न केवल अपनी शूरवीरता और धनु-र्विद्या की कुशलता को आज तक संधृत रखा है वरन् अपनी जातीय स्निग्धता को भी सुरक्षित रखा है । एतत्पूर्व विवरण से निश्चित है कि पहाड़ी क्षेत्र के किन्नर,किरात,खश लोगों ने महाभारत युद्ध में भाग लिया था और इसलिए या तो शाठी लोग कौरवों के और पाशी लोग पाण्डवों के वंशज है या शाठी वे जातियां है जिन्होंने महाभारत में कौरवों का साथ दिया और पाशी पाण्डवों के सहयोगी होंगे। कुल्लू में मनाली के निकट आज देवी रूप में प्रतिष्ठित महाभारत की हिड़िम्बा का वीर पुत्र घोत्कच इसी धरती का राजा था जो पाण्डवों की ओर से लड़ा था और जिस पर कर्ण ने वह अचूक वाण चलाया था जो उसने अर्जुन के लिए सुरक्षित रखा था तथा इस तरह घटोत्कच महाभारत के युद्ध का निर्णायक था। पाण्डवों का इस क्षेत्र से विशेष सम्बन्ध रहा है । वे यहीं हिमालय के पाण्डूकेश्वर में जन्मे थे। यहीं पर लाखा मण्डल में दुर्योधन ने उनके लिए लाक्षागृह बनवायां था । यहीं पर पाण्डवों ने बनवास के दिन बिताए और उन दिनों अनेक स्थानों पर देव मन्दिर स्थापित किए जो आज तक उनके नाम से पूजे जाते हैं। अनेक जल-स्रोत और समतल भूमि पाण्डवों ने ही यहां के कृषि-समाज को प्रदान की है । यहीं से पाण्डवों का स्वर्गारोहण का मार्ग था और आज भी लोगों की धारणा है कि इधर से उत्तर-पश्चिम की ओर गए पाण्डव वापसी पर इसी क्षेत्र से होकर हस्तिनापुर लौटेंगे । इसीलिए खश लोग ठोडा लोक-नाट्य के माध्यम से अपनी कला-कुशलता और वीरता को सुरक्षित रखे हुए हैं । इस क्षेत्र में ऐसे ही अवसरों पर गाई जाने वाली पण्डवायण §महाभारत§ इस धारणा का प्रमाण है ।

ठोडा के लिए निमन्त्रण :

ठोडा लोक-नाट्य आदि से अन्त तक मनोविनोद का आकर्षक केन्द्र बना रहता है । इसका आरम्भ ही बड़े अनोखे ढंग से होता है। जिस किसी खून्द ने ठोडा युद्ध नाट्य के लिए दूसरे खून्द को चुनौती देनी हो तो उस खून्द के कुछ युवक चुपके से जाकर दूसरे खून्द के ग्राम देवता की पूजा या ग्रामवासियों के पीने के लिए प्रयुक्त होने वाले जल की बावड़ी या जल-स्रोत में झाड़ी की टहनियां फेंक देते है और दूर जाकर छिप कर देखते हैं मान ले कि पाशी खून्द वालों ने शाठी खून्द कबीले को युद्ध के लिए ललकारना हो, तो पाशी खून्द के कुछ नवयुवक शाठी खून्द के कबीले की बावड़ी या जल-स्रोत या चश्मे में टहनिया फेंक आएगें और साथ ही शाठी गांव की सीमा से बाहर निकल कर उनके मुखिया

1. डॉ0 सत्येन्द्र -- लोकवार्ता की पगडंडियां - पृ0 65।

को आवाज़ से सूचित भी कर देंगे। इसका अर्थ हुआ कि उस पाशी कबीले ने शाठी कबीले को ठोडा युद्ध-नाट्य के लिए ललकारा है। यह सूचना पाते ही शाठी लोग युद्ध की तैयारी करते हैं। अब कुछ स्थानों पर खून्द अपने मेले के अवसर पर दो अन्य खून्दों को परस्पर ठोडा खेलने के लिए भी विधिवत बुलाया करते हैं। ऐसे खेल को विशेष रूप से आधुनिक रूप देकर आयोजित किया जाता है । बिशू के मेले इन खेलों के प्रमुख दिन होते हैं। बिशू से अभिप्राय बैसाखी के मेले से है परन्तु यह मेला मैदानों की तरह केवल प्रथम बैशाख को नहीं लगता बल्कि प्रथम बैशाख से आरम्भ होकर मध्य ज्येष्ठ तक विभिन्न स्थानों पर विभिन्न तिथियों में आयोजित होता रहता है और इनमें ठोडा का खेल प्रमुख आकर्षण रहता है । निर्धारित तिथि के दिन शाठी लोग जिन्हें आमन्त्रित किया होता है, अपने ग्राम देवता के सामने एकत्रित होंगे । उससे अपनी विजय के लिए आशीर्वाद लेंगे और पूरे दलबल के साथ पाशी के गांव की ओर प्रस्थान करेंगे। प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में फरसा(स0 परशु), डागरा(कुल्हाड़ा),धुणु (धनुष),शरी(तीर),गडासा डिगा(डंडा), तरार(तलवार) ढाल या लाठियां या बन्दूक होगी । किसी का भी हाथ बिना हथियार के नहीं होता । ग्राम देवता के मन्दिर के सामने अनेक बंदूकें दाग कर सलामी दी जाती है और पूजन किया जाता है। तब शाठा दल पूरी तैयारी के साथ ढोल-नगारे, दमामा, रणसिंहा, तुरी, शहनाई, करनाल आदि वाद्य- यंत्रों के रौद्र-ताल में पाशी के गांव की ओर चल पड़ते हैं। मार्ग में हर गांव वाले उनका स्वागत करते हैं, हर गांव में से दल नाचते-गाते, उछलते-कूदते बन्दूकों की सलामी देते हुए आगे निकलता है। अनेक वाद्यन्त्रों का घोर नाद सबका दिल दहला देता है। इनकी टंकार ध्वनियों में दलबल वीररसयुक्त शौर्य के गीत गाते हुए आगे बढ़ती है--

ओरू दे मेरो डांगरौ, डांगरौ भाई डांगरी,
मेरे जाणो जातरौ , जातरौ, भाई जातरौ ।

ठोडा के लिए अपने ग्राम से प्रस्थान करते हुए हाका गाया जाता है-

तेशा हुईला कालपोऊ तू मुखे आण्डा लौड़िणो आइला
तेसी खान रा पात्थरो तू हुईला तो मूंखे लौड़िणो आइला
शाठी रा खेलटू पाशी री मोड़ी मेरीये...
हां तो ओसो पाशी रे लोऊरा भूखा मेरीये ...
लोऊ री भूखे गाली न देई मेरीये ...
लोऊरा भूखा ओसो आपणे कुडबे खाईला.......
धारो दा हाका न देई हाण्डा जुबड़ो के
लोडिणो आई मेरीये......
धोनी देउआ विजिटां तू सुराई रोही मेरीये....
इनरे कूलो दा दागी लाई मेरीये.....

"तू अगर कालपोऊ है तो तू मुझसे लड़ने के लिए आ जा। अगर खान का पत्थर है तो मुझसे लड़ने आ जा । शाठी का खेल पाशी का देवता है । मैं तो पाशी के खून का भूखा हूं । खून के भूखे की गाली न देना । यदि लहू का भूखा है तो तू अपने परिवार को खा ले । धार के ऊपर से हाका{आवाज़} न लगा । जुबड़{मैदान} में लड़ने के लिए आ जा । धन्य है सराहं का विजट देवता। इनके कुल{खानदान} को दाग लगा देना" कालपोउ ग्राम का वर्तमान नाम लुधियाना है। यह हाका अन्धेरी ग्राम वालों की ओर से लुधियाना वालों के लिए है । लुधियाना वाले अन्धेरी वालों को दी जाने वाली हाका में कालपोऊ के स्थान पर "अन्दराल" शब्द का उच्चारण करते हैं।

दलों का मिलन :

ज्यों-ज्यों शाठी दल पाशी कबीले के गांव के निकट पहुंचता है, ढोल, नगारा, रणसिंहा, तुरी, कसाल की फुंकार, योद्धाओं की ललकार, नर्तकों की तलवार, प्रतिद्वंद्वियों की पुकार, बन्दूकों की धुकार चरमसीमा तक पहुंचती है और शाठी कबीला अपनी शक्ति का प्रदर्शन पूरे जोरों से करता है। इधर पाशी के लोग भी उतनी ही शक्ति, उतने ही साहस, उतने ही दलबल के साथ मेहमान के स्वागत के लिए तैयार होते हैं। पहले ही मिलन में शक्ति-प्रदर्शन ज़ोर पकड़ता है। पाशी के दल वाले मैदान के एक कोने में वाद्य-यन्त्रों की रौद्र-ताल में पंक्ति बांध-कर खड़े हो जाते हैं और चक्रव्यूह का निर्माण करके शाठों का मार्ग रोकते हैं । ढोल, नगारे, तरी, दमामे इस क्षण रणभेरी बजा कर वातावरण को अत्यन्त संघर्षमय बना देते हैं। नगारों ढोलों पर पड़ रही टंकार मुर्दे को जगा देती है। दोनों ओर फरसे, डंडे, डांगरे, गंडासे, तलवारें, धनुष-बाण आकाश में नाच रहे होते हैं। जिधर नज़र उठाओ सागर उमड़ रहा होता है । दोनों दलों के योद्धा-कलाकार अत्यन्त उतेजना, उद्वेग और आवेश में नाचते-कूदते हुए एक-दूसरे के निकट बढ़ते हैं। निर्धारित समय पर दोनों दल एक-दूसरे से टकराते हैं। पाशी दल को अपनी व्यूह-रचना की सुरक्षा करनी होती है और शाठी दल को उसे तोड़ कर मैदान में पदार्पण करना होता है। एक के लिए व्यूह की रक्षा करना बड़ी प्रतिष्ठा का प्रश्न होता है तथा दूसरे के लिए उसे तोड़ना बड़ा गौरव-गान है। इस संघर्ष में सामान्य टूट-फूट, खून-खराबा, मार-काट साधारण बात है, इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। यहां तो जानें भी जाती हैं। तब परिस्थितियां काबू से बाहर हो जाती हैं। अनेक जानें इस तरह गई है, जिन्होंने लोक गीतों को जन्म दिया है। "बिशो लाणो रिजटे बाड़गा सुनाए भाईया" लोकगीत में उस घटना का विस्तृत वर्णन है जिसमें पज़ाइक कबीले द्वारा आयोजित रिजट के गिशु मेले में सनाई कबीले के कुछ व्यक्ति मारे गये थे । "बाबुआ जयरामा···" लोक गीत में ठलोग के मेले में बाबू जयराम द्वारा प्रदर्शित वीरता का चित्रण है।

· सोमसी, जुलाई 1977 अंक में श्री सी0आर0बी0ललित का लेख "मेले और त्यौहार", पृ0 17-22

6

परन्तु ऐसी स्थिति कभी कभार होती है, अन्यथा खेल तो खेल है। इस कशमा-कश गुत्थमगुत्था, धक्का-मुक्की और संघर्ष में किसी एक दल की विजय तो स्वाभाविक ही है। जैसी भी स्थिति हो आमन्त्रित दल मंच पर प्रवेश कर ही लेता है, या उसे प्रवेश करने की आज्ञा दी जाती है, तभी तो लोक-नाट्य का अगला भाग पूर्ण होगा। दल नाचते गाते उछलते, कूदते वाद्य-यन्त्रों के साथ जुबड़ी में प्रवेश करता है। जोर-जोर से युद्ध के लिए दूसरे दल को ललकारता है और मंच के दूसरी ओर युद्ध की तैयारी के लिए जुबड़ी को खाली करता है। उसके बाद दूसरा दल यही प्रक्रिया अपनाता हुआ अगले अभिनय की तैया-रियां आरम्भ करता है। मेजबान खून्द को शांति व सुरक्षा बनाए रखने के प्रयत्न करने होते हैं, लेकिन युद्ध-नाट्य के लिए आमंत्रित दोनों प्रतिद्वन्दी खून्दों पर किसी प्रकार प्रति-बन्ध नहीं लगाया जा सकता । दर्शक और विशेष रूप से स्त्रियां रंग-बिरंगे सुन्दर वस्त्राभूषण में सुसज्जित मंच-स्थल के किनारे पर चारों ओर विशेषतः ऊपरी तलहटी की ओर तमाशा देखने बैठ जाती हैं। लाल, नारंगी, पीले, हरे, नीले, जामुनी और गुलाबी धाठू-वस्त्रों में सुशोभित इन्द्रधनुषी दृश्य देखने वालों को मन्त्र-मुग्ध कर देता है। यह नजारा देखते ही बनता है।

उधर ठोडा के कलाकार-योद्धा ललकार भरते हुए मैदान में उतरते हैं। उनके चेहरे तमतमा रहे हैं। उनके एक हाथ में शरी और दूसरे में धणु होता है। वे दो-दो की जोड़ी में होते हैं--एक योद्धा शाठी का और उसी के मुकाबले का कलाकार पाशी दल का। एक ने ललकार भरी है :-

अट्टे मेरेया ठोडेया" (धन्य हो मेरे ठोडे)

तभी दूसरे का उतर मिलता है --

"गुरु पूजा मेरेया तेरो जुबड़ी दा" (उतर) (इस मैदान में तेरा गुरु पहुंच गया है)

और प्रत्युतर --

"उभी लागले लोहू रे गारे" (ऊपर लगेंगे खून के अम्बार)

प्रतिद्वन्द्वी अपने साथी को शीघ्र तैयार होने के लिए कहता है-

शीगु लाई थोई पाशड़ा, मूंखे सुधिणों
थोड़े मालवे के ...हो...हो ... हो
जे रूआ ला डौरी,
तो काटी जुबड़ो रो शौरी...हो...हो
ओड़ा पोड़ी जोड़ीदारा मूंखे
थोड़े मालवे के ..हो...हो
देवो बिजटो री हाज़री,
जोड़ीदारा मूंखे थोड़े मालवे के ...हो...हो

अर्थात् "हे पाशी तू जल्दी से सुथिणो (पाजामा) पहन ले और मेरे साथ ठोडा खेलने के लिए तैयार हो जा । यदि तू डरता है तो अपना तीर मैदान में फेंक दे। जोड़ीदार (साथी) इधर आ और मुझसे ठोडा-मल्ल में मुकाबला कर । साथी हम देवता बिजट के चरणों की सेवा में उपस्थित है । आओ । मेरे साथ ठोडा-मल्ल करने"

यदि ललकार करने वाला पक्ष पाशी हो तो यह पहली पंक्ति इस प्रकार कहेगा--

शीगु लाई थोई शाठड़ा मूंखे सुथिणी

थौड़े मालवे के ···हा···।

अर्थात् पाशी लोग पाशड़ा के स्थान पर शाठड़ा प्रयोग करते हैं। शेष बोल एक समान हैं। खशिया राजपूतों को अपनी स्वाधीनता और स्वतन्त्रता पर अभिमान है। वे किसी के अधीन नहीं हैं। वे न किसी राजा के अधीन हैं, न ठाकुर या टिक्का (राजा का बेटा) के अधीन रहते हैं । यह बात ठोडे की ललकार से स्पष्ट होती है --

बिना टिक्के-ठाकुरे मजगांव गौढ़ो रा खौशिया।

शिगड़े आओ माण्छो चौऊ गभरू चौऊ पटराले

कोउड़ देखदे ···हो···हों

(बिना टिक्के-ठाकुर का है मजगांव गढ़ का खशिया राजपूत। शीघ्र आओ मनुष्यों (माण्छों) चारों तरफ से चार-पट्टाके कउड़ देखने ।)

"शीगा बामोए मेरे औंदौरेया लीपडू आ" (शीघ्र तैयार हो जाओ मेरे मुकाबले वाले योद्दा) ।

तब एक-दूसरे का नाम लेकर या ताने में घटिया नाम लेकर अनेक तरह से पुकार होती है।

"शीगा बामोए मेरेया दिलेराम" (मेरे दिले राम साथी शीघ्र तैयार हो जा)

"मेरे धा शुणे मौस्त रामा ठोडै खेलने रै" (हे मस्तराम ठोडे खेलने के लिए मेरी ललकार सुन)

सारा वातावरण अंगारे उगलने लगता है। अपने को शेर दूसरे को गीदड़ कहा जाता है । अपने दादा-परदादे की दुहाई दी जाती है। अपने-आपको किसी दलेर, वीर शाठे की सन्तान बताया जाता है। पाशे के पहले हुए कुशल तीर-अन्दाज का नाम लिया जाता है। दर्शकों में से अपनी प्रेमिका, अपने मित्र या रिश्तेदार को ठोडा मारने पर सावधान रहने के लिए पुकारा जाता है--

"ऊबी चोटे आखोही मेरीए ड्रूरीय (मेरी प्रेमिका जागो अर्थात् इस ओर ध्यान दो)।

"ऊबे बीउजे मेरीए बौऊए (हे मां ! ज़रा जाग जा)

ऊबे बीउजौ मेरेया सौजणा (हे मित्र ! ज़रा जाग कर देख)

कलाकारों के शरीर के ऊपर के भाग का लिबास साधारण होता है परन्तु इनका पाजामा विशेष आकार-प्रकार का होता है । यह चूड़ीदार सूथण(पाजामा) है जो प्रमुखतः ऊन का या अब मलेशिया अथवा जीन का भी होता है। इसकी अनेक तहें होती हैं। कहीं-कहीं यह छः से आठ तही-पटटी की तंग सलवार-सी होती है। पांव में विशेष प्रकार के मोटे जूते होते हैं जो स्थानीय घास "शैल(के बनते हैं। अब चमड़े के मोटे जूते, बूट या हण्टरशू भी पहने जाने लगे हैं ।

उपर्युक्त रूप से ललकार के बाद शाठी और पाशी के लोग अपनी सफलता के लिए अपने इष्टदेव का आहवान और जय-जय-कार करते हैं। दोनों कलाकार अपने-अपने देवी-देवता की स्तुति करते हुए ज़ोर-ज़ोर से पुकारते हैं--

"शीगे टुलके मेरीए षठ बाहीए मेरी जुबड़ी दे" अर्थात हे साठ भुजाओं वाली माता दुर्गा । शीघ्र ही मेरे इस रणांगण में पहुंच और मुझे विजय दिला ।

दूसरा आहूवान करता है--

"शीगे आये मेरीए कालिकीये-शाठी री थाती दी" अर्थात शाठो की रक्षक मेरी काली माता शीघ्र आओ ।

एक-दूसरे को पुनः ललकारते हुए कहते हैं--

"देऊ शिरगुल री जुबड़ी दौ पूजा ओ लोहूरा भूखा खौशिया" अर्थात् खून का प्यासा खशिया (खश) श्रीगुल देवता के मैदान में पहुंचा है। "ठडैयरी रा भूखा, हउंजी झमक लागी हो--हो--हो--"(मैं ठोड़ा का भूखा हूं। मैं खेल के लिए तरस रहा हूं)।

"मूएं न मेरेया चौउंं बागणीरो कथारा छुड़ छाडों। तू ओ मेरेया दूई बागणी रो" अर्थात मैने चार पैरों वाला कस्तूरा भी नहीं छोड़ा है, तुझ दो पैर वाले को कैसे छोड़ूंगा।

द्वन्द्व युद्ध :

वाद्य-यन्त्रों पर विशेष ताल में जिसे ठडेयंर ताल कहते है, छाती दहलाने वाला बाजा बजता है--धींग ता, धींगाता-धींगाता,धिंग। दोनों कलाकार एक-दूसरे से दस से बारह मीटर/गज दूर खड़े होते हैं और प्रत्येक प्रतिद्वन्द्वी अपने दूसरे प्रतिपक्षी को पहले शरी(तीर) चलाने के लिए कहता है । धारणा है कि पहले जो तीर चलाएगा वह कमज़ोर कहलाएगा। इसी के निर्णय में संघर्ष रहता है । जहां देर से प्रतिस्पर्द्धा चल रही हो, वहां पिछली बार हारा हुआ पहले तीर चलाता है। या उनमें बारी-बारी से पहले तीर चलाने की प्रथा चली होती है। वाण चलाने के भी स्पष्ट नियम हैं। तीर केवल घुटने से नीचे और टखने से ऊपर टांग पर लगाना चाहिए । पिंडली इसका प्रमुख निशान होता है। एक कलाकार सामने खड़ा होकर वाद्यों के संगीत में नाचना आरम्भ करता है। समय आने पर टांगों को द्रुत गति से इधर-उधर हिलाता है जिसे छुलना अर्थात उछलनाकहतें हैं। यही शारीरिक स्फूर्ति और सक्रियता उसके बचाव का साधन है, अन्यथा वह निहत्था होकर प्रतिद्वन्द्वी के आक्रमण का सामना

करता है । दूसरा योदा धणु में शरी-ठोडा चढ़ा कर बाया जानू धरती से लगाए तीरासन में बैठ कर धणु को कानों तक खींच कर घुटने और टखने के बीच टांग पर वाण-प्रहार करता है । यह कम दोनों खिलाड़ी क्रमशः दोहराते हैं। यदि शरी ठीक निशाने पर लगे, लक्ष्य की पूर्ति हो जाए तो कलाकार सफलता में धणु और शरी या डांगरा{कुल्हाड़ा} के साथ उछल-उछल कर नाचने लगता है। वास्तविक विजय तब होती है जब लहू का धब्बा सूथाण{पाजामें} में बाहर दिखाई दे । विजय की खुशी में वह पुकारता है--

"बुरा लागा था मेरी जोड़ीए गीदड़ आओ था जुबड़ी दे" अर्थात् मेरे प्रतिपक्षी तुम्हें बुरा लग रहा था{अब शान्ति आई}जुबड़ी में गीदड़ आया था,{जिसे मार भगाया} ।

दूसरे का वाण भी अचूक नहीं जाएगा, यह उसका प्रयत्न रहता है। मुकाबले की चोट होती है। सफलता मिलने पर वह भीं जवाब दे बैठता है--

"कोदेरा कोदा देऊ मेरे या सियां" {कोदे का बदला कोदे में ही देता हूं,मेरे शेर}।

खेल का यह क्रम सारे दिन सांय तक चलता रहता है। रात को आमंत्रित दल के सभी सदस्यों को गांव के सब घरों में बांट दिया जाता है, जहां उनका पूरे सम्मान से बढ़िया से बढ़िया भोजन द्वारा आतिथ्य होता है। इस प्रथा को "ठीला" या "खिडू पाणा" या "भोरे पाणा" कहते हैं। ठोडा का युद्ध-नाट्य वस्तुतः पहाड़ी जनता की शताब्दियों पुरानी परम्परागत संस्कृति और सभ्यता की शाश्वतता का ताना-बाना गूंथे हुए हैं । यह लोक-जीवन में वीर-भावना से प्रतिष्ठित है। इस में जहां एक ओर प्राचीन युद्ध-विद्या और व्यूह-रचना का जीता-जागता उदाहरण प्राप्त होता है, वहां दूसरी ओर यह पहाड़ी जनमानस के लिए तीर-अन्दाजी का उपयुक्त प्रशिक्षण प्रदान करता है। जब तक युद्ध के वर्तमान प्रकरण उपलब्ध नहीं थे, धनुष-वाण ही लड़ाई और हिंस्र पशुओं से रक्षा का एकमात्र साधन था परन्तु जहां तक ठोड़ा-नाट्य का सम्बन्ध है यहां केवल टांगों या पैरों पर निशानाबाजी ही एक मात्र आक्रमण है। लगता हैं कि ठोडा शब्द का सम्बन्ध पूर्व-वैदिक संस्कृत धातु"ठोर" से है, जिसका अर्थ दौड़ना है। पहाड़ी भाषा में ठोर का अर्थ दौड़ाई है, यथा "ठोर मारना" {दौड़ाई देना} ठोर से क्रिया "ठुरना" है जो पंजाबी में "टूरना" हो गया है। "टूरना" से भाववाचक शब्द "ठुरडा" या ठुर्डा" बना है जिसका अर्थ पैर या टांग है। पहाड़ी में "र" प्रायः श्रुत हो जाता है। इस प्रकिया में अनेक बोलियों में "ठुरडा" या "ठर्डा" केवल "ठुडा" रह गया है, और पंजाबी में यह ठुड है। इसी ठुड या ठुडा से यह लोक-नाट्य ठोडा कहलाया है, क्योंकि इसमें टांगों पर ही वाण का निशाना बांधा जाता है और टांगों की ही मूल कसरत रहती है।

एक स्थान पर जब ठोडा समाप्त होता है तो ठोडा के कलाकार दूसरे स्थान पर ठोडा का निमन्त्रण लेकर जाते हैं।

1· मौलू राम ठाकुर:"पहाड़ीभाषा-कुलुई के विशेष सन्दर्भ में,पृ0163-64 ।

विलासपुर - क्षेत्र में - 'भगत' का स्वरुप

डॉ॰अमिता शर्मा

लोक धर्मी भक्तेक्न्या नाट्य धर्मी तथा परा ।
स्वाभावो लोक धर्मी तु विभावो नाट्यमेव हि ।।

नाट्य-शास्त्र के रचयिता भरत मुनि उक्त कथनानुसार जो मानव स्वभाव है , वह स्वाभाविक लोक धर्म है, जो कृत्रिम है वह नाट्य धर्म है। मानव मन की सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति लोकधर्मिता है। सृष्टि के समस्त प्राणी स्वभाव से ही अनुकरण या नकल से ज्ञान का उपार्जन करते हैं । आदि काल में जब मन बह-लाने के बनावटी साधन कम होते थे तब भी, छोटे-छोटे समूहों में रहते हुए कबीले अपना मनोरंजन करने के लिए नकल का सहारा लिया करते थे । शिकार से लौट कर आए शिकारी दूसरे लोगों के सामने अपनी वीरता की घटना की नकल करके दिखाते थे । धीरे-धीरे परिस्थितियों ने रूख बदले । काल-चक्र ने इतिहास को वैदिक युग से भी आगे मुगल काल तक पहुंचा दिया । अब तक भारत में बने नाट्य गृह, नाट्य शालाएं सुप्त अवस्था से लुप्त अवस्था तक पहुंच रही थी । राज्या-श्रय हटते ही कला का लोप होने लग गया था । मगर वह कला जो समाज की सहज अभिव्यक्ति रही हो, इतनी सरलता से अन्तर्ध्यान नहीं हो पाती। नाट्य-कला-क्षेत्र में बड़े मनोरंजक पृष्ठ आए । राज्यगृहों में बनी नाट्य-शालाओं पर पर्दे पड़ गए । दर्शकों का आना बन्द हो गया मगर कला मर न सकी । नाटक ने सिंहासन को छोड़ कर जन-मानस पर अधिकार जमा लिया । महलों की रानी घर-घर की दुलारी बन गई , राज धर्म अब लोक धर्म बन गया ।

भारत में नाटक व रंगमंच का इतिहास गवाह है कि मुगल काल में सम्पूर्ण भारत में लोक-नाट्य की लहर चली जो जन-मानस को चमत्कृत कर गई। काशी में अंतिम बार दसवीं शताब्दी में खेले गए संस्कृत नाटक के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक का काल लोक-धर्मी नाट्य रंगमंच का काल बन गया । 'डॉ. दशरथ ओझा' के अनुसार हिन्दी नाटक की परम्परा का मूल स्त्रोत यह जन-नाटक ही है, जो स्वांग आदि नाम से अपने प्राचीन रूप में अब तक विद्यमान है । क्रमशः इन जन-नाटकों की एक शाखा ने ही विकसित होकर साहित्यिक रूप धारण किया।

स्वांग - स्वांग का शाब्दिक अर्थ है-नकल। हिमाचल की नहीं समस्त भारत में यह

नाट्य रूप अनेक रूप धारण करता रहा व परिवर्तित हुआ जो स्वांग रूप में , ग्रामों, बस्तियों व कस्बों की साधारण जनता के लिए मनोरंजन का साधन ही न बना अपितु जागरण का कार्य भी इस कला ने किया । सीधे-साधे शब्दों में स्थानीय समस्याओं, समाज- व्यवस्था ,शासकों, संस्थाओं व संगठनों पर कटाक्ष करना, खिल्ली उड़ाना ,स्वांग की कथावस्तु रहा है । कालान्तर में नाट्यकारों ने इन्हीं मंचों को प्रयोग कर राष्ट्रीय जागरण का संदेश दिया । लोक-नाट्य रूपों में रामलीला, कृष्ण-लीला, स्वांग, नौटंकी आदि बहुत लोक प्रिय हो गए थे । समस्त भारत में यह एकाधिक रूप में प्रचलित रहे हैं ।

हिमाचल में स्वांग के अनेक रूप पनपे, जिनमें करयाला, ठोडा, बरलाज बांठड़ा, भगत, देउ-खेल., राखस खेल, हार व जात्रा आदि जो अभी तक भी लोक-प्रिय है ।

भगत बिलासपुर जनपद में स्वांग का जो रूप खेला जाता है उसे कहीं-कहीं "भगत" कहा जाता है । अधिकतर क्षेत्रों में इसे "स्वांग" या "दहाजा" कहा जाता है । यह नाटक वैसे तो कभी भी खेला जा सकता है मगर अधिकतर ऐसे नाट्य का आयोजन सर्दियों में ही किया जाता है । भगत में भक्ति भावना ही प्रधान रहती है । समृद्ध या कोई भी श्रद्धालु लोग अपने इष्ट देवता से मनौती मांगते हैं और सफल होने पर स्वांग या दहाजा रचाते हैं जिसमें अपने इष्ट मित्रों, बन्धुजनों व गांव वालों को निमन्त्रण भेजकर आंगन में यज्ञ§भोज§ का आयोजन किया जाता है। कलाकारों को विशेष आदर सम्मान मिलता है । सांझ ढ़लने से पहले ही सभी लोग भोज§दावत§ खा लेते हैं । भगत का आयोजन अंधेरा उतर आने के बाद ही होता है । खेल प्रारम्भ होने से पूर्व घर की आग को बुहाख कर पानी छिड़क कर पवित्र गोबर से लीपा जाता है । लीपने का काम घर की बहू ही करती है ।

आंगन के एक कोने मे अलाव§ध्याना§ जलाया जाता है । उसके साथ ही पीछे अंधेरे में किसी स्थान को "ग्रीन्-रूम" बना दिया जाता है । बाकि सभी प्रकार की प्रकाश-व्यवस्था हटा ली जातीं है । केवल एक अलाव ही जल रहा होता है । जब तक यह सब तैयारी चल रही होती है, तब तक स्वांगी पार्टी गांव के पास बने देवता के "धाड़े§देवस्थल§ तक जाकर लौट आती है । देवता के धाड़े तक जाते समय यह लोग अपने वाद्यन्त्र साथ ले जाते हैं ज़ोर- ज़ोर से बजते डमरू और विशेष गान गाते ये कलाकार एक मशाल धारी के पीछे चलते हैं । मशाल धारी प्रायः आयोजक के घर का ही कोई सदस्य होता है इसके साथ दूसरा सदस्य

श्रद्धा के साथ मनौति में §बंदा§ माना हुआ सामान §रूपए, आटा, तेल, घी, वस्त्र आदि§ ले कर चलता है । देवता के थान §थाड़े§ पर जाकर पुजारी उच्च स्वर से मंत्र पढ़ता है, और श्रद्धालु अपनी श्रद्धावस्तुएं अर्पित करते हैं । साथ-साथ वाद्य-यन्त्र यथा ढोल आदि भी बजाए जाते हैं --जिससे आस-पास के लोगों को आरती सम्पन्न हो जाने का पता चल जाता है । यह देवता, पशुओं का रक्षक माना जाता है तथा बहुत प्रभावशाली §जागता देव§ माना जाता है । समस्त गांव-वासी, प्रतिवर्ष नई फसल आने पर देवता के नाम पर 'रोट' चढ़ाते हैं । इस देवता के लिए आटा§नई फसल का§ घी, तेल गुड़, शक्कर तथा आलू आदि नई फसल की प्रत्येक वस्तु चढ़ाई जाती है । पुजारी स्वयं घर-घर जा कर इस भेंट को एकत्र करता है जिसे 'चूरी' कहा जाता है । कई बार स्वांग के लिए भी समस्त गांव वासी अपनी अपनी श्रद्धा के अनुसार धन व अनाज आदि की 'जोड़' भी डालते हैं । यह सब आरती के समय चढ़ाई जाती है । आरती के बाद स्वांगी दल, निर्धारित स्थल के लिए वाद्य यन्त्रों को बजाता हुए चलता है । यदि स्वांग देवस्थाली गढ़ी के पास खेलना हो तो तमाशा देखने के लिए दर्शक ऊंचे स्थानों पर डेरा जमा लेते हैं और नीचे के स्थान पर स्वांगी इक्ट्ठे हो जाते हैं ।

पात्र एवं वेशभूषा

पात्र प्रायः पुरूष ही होते हैं । कथानक की मांग के अनुसार पुरूष पात्र नारी वेश धारण करते हैं । नारी का अभिनय करने वाले पात्र, सलवार, कमीज व गोटेदार दुपट्टा पहनते हैं या घाघरा तथा कुर्ता । पुरूष पात्र, चूडीदार पायजामा, लम्बा कुर्ता, सिर पर साफा पहनते व कमर में दुपट्टा बांधते हैं । स्वांग में एक "मसखरा" §जोकर§ अवश्य रहता है । उल्टे फटे पैबन्द लगे उल-जलूल वस्त्र पहने यह पात्र केवल हंसाने के लिए होता है । इन पात्रों का मेक अप बड़ा साधारण होता है । चेहरे पर केवल आटा या, पाउडर, आखों में गहरा काजल होंठों पर सुर्ख रंग की लाली, हाथों पैरों पर मेंहदी लगाई जाती है । परम्परा से वृन्दावन की वेशभूषा का प्रयोग किया जाता है । परन्तु आधुनिक परिवेश में प्रचलित सौन्दर्य साधनों का भी प्रयोग किया जाता है ।

वाद्ययन्त्र

वाद्य-यन्त्रों की सहायता से ही ध्वनि व्यवस्था की जाती है। स्वांगी दल प्रायः अनुसूचित जाति के लोग ही होते हैं । इनके घरों में परम्परा से रखे सुरक्षित

वाद्य-यन्त्रों जैसे ढोल, डफाल, डमरु, चिमटा व खंजरी का ही प्रयोग होता है। आजकल कुछ लोग हारमोनियम भी बजाने लगे हैं । मगर बल डमरू पर ही रहता है । बांसुरी भी प्रायः बजाई जाती है । प्रकाश-व्यवस्था के लिए अलाव रात भर जलता रहता है । कभी-कभी यदि दर्शक अधिक हों और दूर तक बैठे हों तो किसी खम्भे के सहारे लालटेन आदि लटका दी जाती है । कहीं-कहीं बिजली की भी व्यवस्था होती है ।

स्वांग का प्रारम्भ

स्वांग के शुरू में एक पात्र, कृष्ण और बाकी गोपियां बन जाते हैं । तब कृष्ण भगवान की आरती उतारी जाती है । आरती के बाद जोकर का पात्र अपने हाथ में 'पोली' छड़ी लेकर आता है। इससे बहुत आवाज़ आती है । यह जोकर कृष्ण को छोड़ कर बाकी किसी भी पात्र से हंसी मजाक कर लेता है, पिटाई कर देता है कभी गोदी चढ़ जाता है । उसे खुली छूट होती है वह कोई भी अश्लील बात तक कह देता है । मगर ऐसा कम ही होता है ।

इसके बाद ही वास्तविक खेल आरम्भ होता है । कृष्ण-लीला की किसी एक घटना को लेकर खेल खेला जाता है । गोपियां उद्धव को बहुत तंग करती हैं। कृष्ण गोपियों के साथ रास-लीला करते हैं । इनमें मनसुखा व कुब्जा प्रसंग भी काफी लोकप्रिय हैं । दर्शक धन आदि दान करते हैं तब गायक उस दानी की बेल (आशीर्वाद) गाते हैं जिसमें उसके सुख समृद्धि की कामना की जाती है । मुख्य खेल पूरा होने के बाद दर्शकों की पसंद व फरमाईश पर कोई विशेष स्वांग खेले जाते हैं । पारंगत स्वांगी अलाव से जलते अंगारे ले कर मुंह में रख लेते हैं । मुंह से आग की लपटें निकालते हैं । अंगारों पर नंगे पांव चलते हैं । तलवार की धार पर चलते हैं तथा पास के घर की ऊंची छत पर चढ़ कर जोर-जोर से अजीब तरह की आवाज़ें निकालते हैं । अंगारे खाना व आग पर चलना बहुत आम बात होती है । समस्त दर्शक लोग दांतों तले उंगली दबाए देखते रहते हैं और स्वांगी आग पर ऐसे चल लेते हैं मानों हरी कोमल 'दूब' पर चल रहे हो । यह कला है या जादू मन्त्रों का बल, यह तो नहीं कहा जा सकता. मगर दृश्य बड़ा ही रोमांचक हो जाता है ।

इन प्रसंगों के अतिरिक्त कई बार स्थानीय घटनाओं को आधार बना कर भी स्वांग (नकल) किया जाता है । गांव के किसी विशेष चर्चित (हास्य पद) पात्र को

लेकर खेल बनाए जाते हैं । तीखे व्यंग्य चुटकीली पंक्तियां और स्वांग मनोरंजक,
लोक घटनाओं, लोक गाथाओं को मंचित करता यह 'लोक-नाट्य' प्रातः तक दर्शकों को बांध कर रखता है । बीच-बीच में आरती भी घुमाई जाती है । दर्शक इस में पैसे डालते जाते हैं । इस प्रकार लोकानुरंजन का यह साधन लोक-नाट्य, दर्शकों के मन पर गहरी छाप छोड़ता है । समाप्ति पर अगले स्वांग के समय व स्थान की घोषणा की जाती है । कलाकारो की सिदहस्तता व प्रस्तुति के अनु-सार दर्शक खुल हाथों पैसे देते हैं ।

समापन प्रातः होते-होते एक बार पुनः आरती के साथ यह स्वांग, भगत, दहाज व खेल सम्पन्न होते हैं । आजकल यह कला पुनः लोकप्रियता के शिखर छू रही है । स्वांगी लोग इस कला को धार्मिक कार्य भी समझते हैं । यह माना जाता है कि यदि पिता स्वांगी अपनी औलाद को पारंगत नहीं करेगा तो उसे मुक्ति नहीं मिलेगी। शायद इसी विश्वास के सहारे भी यह कला अब तक जीवित है ।

कुल्लू दशहरा 1988 में पुस्तक प्रदर्शनी ।

पश्चिमोत्तर हिमालय के कुछ प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर तथा अन्य धार्मिक स्थान

बलराम

बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव भारतवर्ष की पवित्र भूमि पर हुआ था परन्तु खेद की बात है कि आज हमारे देश में यह धर्म लाहुल-स्पिति, किन्नौर, लद्दाख, दार्जिलिंग और सिक्किम इत्यादि जगहों पर ही सिमट कर रह गया है और शायद यही कारण है कि आज चारों ओर हिंसा का दौर चला है। इस प्रवृत्ति को भगवान बुद्ध द्वारा दर्शाये गये "जीओ और जीने दो" के मार्ग पर चल कर ही रोका जा सकता है।

हिमाचल के पश्चिमोत्तर भाग में बौद्ध धर्म लाने का श्रेय आचार्य पद्मसम्भव को दिया जाता है ।[1] आचार्य पद्मसम्भव काश्मीर के उत्तर-पश्चिम में ग़ज़नी के समीप उद्यान नाम की जगह के रहने वाले थे।[2] बौद्ध धर्म का प्रचार करने से पहले उन्होंने बंगाल जाकर तान्त्रिक शिक्षा ग्रहण की थी।[3] कुछ विद्वानों का कहना है कि तिब्बत के तत्कालीन बौद्ध राजा स्त्रोंग देत्छन(740-786) ने उन्हें तिब्बत बुलाया था[4] परन्तु कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि उन्हें शान्तरक्षित नाम के एक भारतीय मठवासी जो कि उन दिनों तिब्बत में काम कर रहे थे अपनी सहायता के लिए नालन्दा से अपने साथ ले गये थे।[5]

---

1. History of Panjab Hill States, J.Hutchison and J.P Vogel; Deptt. of Languages and Culture (H.P) 1982 P.475
2. ऊपर-लिखित पृष्ठ 475; L.A.Waddel, Buddhism in Tibet ,P.26 And Iconography of Religions, An Introduction; Albert/C. Moore; S.C.M. Press Ltd. London, P.197
3. Iconography of Religions, An Introduction; P. 197
4. Buddhism in Tibet, Waddel, P. 30
5. Our Cultural Fabric, Cultural Heritage of Ladakh; Govt. of India (1978), P.63

यह कहना कि पद्मसम्भव पश्चिमी हिमालय में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने वाले सबसे पहले व्यक्ति थे कुछ उचित नहीं लगता है। वाडेल (Waddel) जिन्होंने तिब्बत के बौद्ध-धर्म के बारे में बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है, के अनुसार आचार्य पद्मसम्भव को तिब्बत के तत्कालीन राजा ने बुलाया था और वह पहले ही बौद्ध धर्म ग्रहण कर चुके थे। वाडेल के कथन में कुछ सत्य है क्योंकि इन इलाकों में बौद्ध-धर्म तो लगभग 250 ई० पूर्व से ही पनप रहा था। उन्हें तो केवल इसलिये बुलाया गया था ताकि वह संस्कृत के ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद कर सके। इन इलाकों में बौद्ध-धर्म के प्रचार और प्रसाद के पीछे तो महाराजा अशोक और कनिष्क के भेजे हुए धर्म-प्रचारक का मुख्य हाथ था।

आचार्य पद्मसम्भव ने लामावाद के "ञीमा" सम्प्रदाय (Red Hat Sect) की स्थापना की थी क्योंकि वे स्वयं एक तान्त्रिक थे। अतः आज भी "ञीमा" सम्प्रदाय के लोग तन्त्र पर विश्वास करते हैं और आचार्य पद्मसम्भव को "गुरू रिम्पोछे" के नाम से जानते हैं। ञीमा सम्प्रदाय के लोग लाल रग के कपड़े पहनते हैं, इसलिए इन्हें "लाल-टोपी" सम्प्रदाय का नाम भी दिया जाता है। ये लोग निर्वाण पर विश्वास करते हैं। लगभग सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर हिमालय में जहां भी अभी बौद्ध-धर्म जीवित है, वहां इस सम्प्रदाय का बोल-बाला है। इसलिए इन इलाकों के अधिकतर गोम्पों में भगवान बुद्ध (शाक्य-मुनि) अवलोकितेश्वर (चैन राजिक) अमिताभ, मैत्रेय (भविष्य के बुद्ध) और बौद्ध-धर्म की देवी तारा की मूर्तियों के साथ-साथ पदमसम्भव की मूर्तियां भी पाई जाती हैं। अवलोकितेश्वर को पद्मपाणी के नाम से भी जाना जाता है।

सच्चाई तो यह है कि आचार्य पद्मसम्भव के आगमन के बाद ही बौद्ध धर्म के शुद्ध रूप की अवनति होनी शुरू हो गई थी। बौद्ध धर्म के शुद्ध रूप के प्रचार और प्रसार में रूकावट आने का एक कारण और भी था और वह था पश्चिमोत्तर हिमालय के लोगों का तिब्बत और भूटान के साथ धार्मिक सम्बन्ध जिसके कारण केवल लामावाद को ही बल मिला, बौद्ध-धर्म के शुद्ध रूप को नहीं। इस बात को एक उदाहरण देकर समझाया जा सकता है।

पद्मसम्भव का जहोर (मण्डी) और काज़ा (लाहुल) आने से पहले त्रिलोकनाथ (लाहुल के चन्द्रभागा घाटी में स्थित) का मन्दिर शिव भगवान का मन्दिर था। इस मन्दिर में सफेद संगमरमर की मूर्ति की स्थापना पद्मसम्भव ने की थी। त्रिलोकनाथ मन्दिर का राणा जो मन्दिर का कारदार हुआ करता था। पहले घण्डाढ गोम्पे का

भी कारदार हुआ करता था। वह तत्कालीन भूटान नरेश श्री नवांग नमग्याल को अपना गुरू मानते थे। । राणा ने गोम्पा के कारदारी के काम को अपने गुरू के हाथ में इस प्रार्थना के साथ दे दिया कि वह समय-समय पर गोम्पे की देखभाल और अन्य धार्मिक अनुष्ठानों को पूर्ण करने के लिये एक लामा की नियुक्ति कर लिया करेंगे। इस प्रकार से हर तीन साल के अन्तराल के बाद भूटान से एक लामा आता था और वह घण्डाढ गोम्पे के प्रधान लामा के रूप में काम करता था। परन्तु भौगोलिक दूरी के कारण यह व्यवस्था अधिक समय तक नहीं चल सकी। इसलिये नवाग-नमग्याल ने लद्दाख के तगना नाम के गोम्पे के प्रधान लामा को यह अधिकार दे दिया कि वह समय-समय पर घण्डाढ गोम्पे के लिये एक लामा की नियुक्ति कर लिया करें। यह व्यवस्था अभी भी जारी है। अभी भी घण्डाढ गोम्पे की नियुक्ति और तबदीली लद्दाख में ही की जाती है। इस प्रकार की व्यवस्था से केवल लामावाद को ही बल मिला ।

इन इलाकों में बौद-धर्म का एक और सम्प्रदाय भी प्रचलित है जिसे ग्येलुक्पा अर्थात् "पीली-टोपी४" (Yellow Hat Sect) ४सम्प्रदाय का नाम दिया जाता है। ये लोग पीले रंग के कपड़े पहनते हैं। तिब्बतियों का धार्मिक नेता दलाई लामा इसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। ये लोग भी निर्वाण मे विश्वास करते हैं परन्तु तान्त्रिकी में नहीं। इस सम्प्रदाय के संस्थापक चौदहवी शताब्दी के सन्त ग्येलुकपाजड·ख्पा को माना जाता है। जहा तक लाहुल और किन्नौर का सम्बन्ध है ये "लाल-टोपी और "पीली-टोपी" वर्गों से सम्बन्धित वर्गीकरण केवल गोम्पे तक ही सीमित है। आम लोग तो साधारण कपड़ों में ही रहते हैं।

"महायान" सम्प्रदाय को तो बडे घरानों का संरक्षण मिला परन्तु "हीनयान" को नहीं। आगे चल कर महायान के भी चार वर्ग बन गये और वे चार वर्ग है:- ४1४ निङ्मापा, ४2४ सक्याप ४3४ करग्युदपा और ४4४ गेलुक्पा ४ज्ञलुक्पा४ यह वर्गीकरण भी मठाधीशों की 'अपनी पहचान बनाये रखने के लिए हुआ था किसी और कारण से नहीं।

लाहुल में क्ररग्युदपा सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। इस सम्प्रदाय के लोगों ने कई नए बौद मठ बनवाये तथा पदमसम्भव के अनुयायियों द्वारा बनवाये गये मठों को अपने हाथों में ले लिया। इस सम्प्रदाय के सन्त थे तिलो, नारा, मारपा और मिला-रेस्पा। 8 किन्नौर के लामा रिन्चन-जंगपो ने कुछ कश्मीरी कारीगरों की सहायता से गुमरग और सिसू गावों के बौद्ध-मठ बनवाये । इस तरह से सोलहवीं शताब्दी तक लाहुल मे "लाल-टोपी" सम्प्रदाय के दो उप-सम्प्रदायों ४1४ ल्हो-जंगपो और ४"2४ द्रुग्पा का बोल-बाला हो गया था।

लाहुल के तीन मुख्य गोम्पे[1] घण्डाढ, शशुर और कारदंग गावों में स्थित हैं। आइये अब इन गोम्पों की कुछ मुख्य-मुख्य बातों के बारे में जानकारी प्राप्त कर लें।

1. **कारदंग गोम्पा** :- कारदंग गांव किसी जमाने में लाहुल का मुख्यालय हुआ करता था। यह गांव भागा नदी के बाईं ओर केलंग गांव के ठीक सामने नदी पार स्थित है। कहते हैं कि गोम्पे की स्थापना लगभग 900 साल पहले हुई थी। परन्तु बीसवीं शताब्दी के शुरू तक यह गोम्पा लगभग जीर्ण-शीर्ण हालत में रहा। इस गांव के विद्वान लामा नोरबू ने इस गोम्पे को फिर से नई जिन्दगी दी। इस गोम्पे को नई जिन्दगी देने से पहले लामा नोरबू ने सन्यास ले लिया था। सन्यास लेने के बाद वह भ्रमण के लिये निकल पडा और तिब्बत से होते हुए भूटान जा पहुंचा। इस दौरान उसने बहुत से बौद्ध-ग्रथों का अध्ययन किया तथा साथ ही साथ योगाभ्यास भी सीखता रहा । इसके बाद वह लाहुल वापिस आ गये और धर्म प्रचार करना शुरू कर दिया। कारदंग गांव के आस-पास के बहुत से लोग उसके शिष्य बन गये और इस प्रकार सन 1912 से गोम्पे ने फिर काम करना शुरू कर दिया। कुछ समय के उपरान्त लामा नोरबू के अनुयायियों ने उसे "रिम्बोछे" धार्मिक गुरू की उपाधि से सम्मानित किया। इस तरह से वह लामा नोरबू से नोरबू रिम्बोछे बन गया। यादगार के रूप में उसकी अस्थियों को अभी भी इस गोम्पे में सुरक्षित रखा हुआ है। गोम्पे में चांदी की पर्त चढ़ी एक "छोरतेन" है। कहते हैं कि इस "छोरतेन" के अन्दर लामा नोरबू की खोपडी और कुछ राख इत्यादि सुरक्षित रखी हुई है।

लाहुल में यह शायद एक अकेला गोम्पा है जहां कि बौद्ध धर्म ग्रन्थों का एक बहुत बड़ा संग्रह है। यही कारण है कि यहां कभी-कभी विदेश से आये हुए विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते हुए पाये गये हैं। इस प्रकार से जितने लामा और चोमो है (Nuns) इस गोम्पे में रहते हैं उतने शायद लाहुल के किसी भी गोम्पे मे नहीं हैं। यहां कई प्रकार के "मने" Prayer Wheels हैं। बड़े आकार के मने को "मने-दुङग्युर" और छोटे को "मने लाक्खोर" कहते हैं। गोम्पे के अन्दर की दीवारों में कई प्रकार की रंगीन तान्त्रिक चित्रकारियां देखने को मिलती हैं। रेशमी कपड़ों पर लाल और पीले रंगो से की चित्रकारी भी देखने को मिलती है। इन्हें थाङ्का कहा जाता है कुछ "थाङके" दीवारों पर भी लटकाये देखे जा सकते हैं। एक कमरे मे एक मूर्ति है जिस के ग्यारह सिर और अनगिनत बांहें हैं।

---

1. गोम्पा तिब्बती भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है वह निर्जन स्थान जहां पर पूजा की जा सके। यही कारण है कि गोम्पे आमतौर पर गांव से बाहर देखने को मिलते हैं।

लामा नोरबू के बाद कारदंग गोम्पे के इतिहास में जिस लामा का नाम बार-बार आता है वह है लामा कुन्गा। लामा कुन्गा शिक्षा ग्रहण के लिये दो बार तिब्बत गये और लगभग दस वर्ष तक वहां रहे। लामा कुन्गा की मृत्यु सन् 1965 में हुई थी।

लामा नोरबू की मृत्यु की तारीख के बारे में निश्चित ज्ञान नहीं है। कुछ-कुछ लोगों का कहना है कि उनकी मृत्यु सन् 1952 में हुई थी तो कुछ का कहना है कि उनकी मृत्यु सन् 1953 में हुई थी। चांदी की छोरतेन वाले कमरे में एक मूर्ति है जिसे कि तोबदन-साक्या-श्री की मूर्ति बताया जाता है। छोरतेन के दांई ओर दो मूर्तियां और हैं जिन्हे कि पद्मसम्भव और देवी तारा की मूर्तियां बताय। जाता है। इन मूर्तियों के पीछे दीवार के साथ बौद्ध-धर्म के "कङ-ग्युर" ग्रन्थ के 103 खण्ड रखे हुए है। इसी प्रकार से तङ--ग्युर" ग्रन्थ के भी कुछ खण्ड यहां उपलब्ध हैं। वैसे तो "तङ-ग्युर" ग्रन्थ के 226 खण्ड होते परन्तु लाहुल के शायद किसी भी गोम्पे में इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण 226 खण्ड उपलब्ध नहीं हैं।

नृत्य, संगीत और पूजा-पाठ के प्रयोग में आने वाले कई प्रकार के करताल और अन्य वाद्य यन्त्र भी यहां उपलब्ध हैं। तांबे के नरसिंह-नुमा वाद्य-यन्त्र की लम्बाई पाच फुट के लगभग होती है। नरसिंह की तरह इसे भी फूंक मार कर बजाया जाता है। परन्तु यह नरसिंह के समान टेढा-मेढा नहीं होता है। गोम्पे में कुछ शहनाईयां, हाथ से बजाने वाली घंटियां तथा कुछ वज्र इत्यादि भी देखने को मिलते हैं जो कि विभिन्न प्रकार के पूजा-पाठ के कामों में प्रयोग में लाये जाते हैं। यहां ग्यारह चेहरों वाली भगवान अवलोकितेश्वर की एक मूर्ति तथा लकड़ी का एक मने-दुङग्युर है जिसकी ऊंचाई छः फुट के करीब है जिसके एक चक्कर काटते ही स्वयमेव घण्टी बज जाती है।

2. **घण्डाढ़ गोम्पा** :- यह गोम्पा चन्द्रा और भागा नदियों के संगम के निकट एक पहाड़ पर स्थित है। कहते हैं कि यह गोम्पा 800 साल पुराना है। गुरू पद्मसम्भव को इस गोम्पे का संस्थापक माना जाता है त्रिलोकनाथ मन्दिर के राणा का कुछ समय तक इस गोम्पे के कारदार होने का जिक्र हम पहले ही कर चुके हैं। इसी कारण कई लोगों का यह ख्याल है कि किसी जमाने में यह गोम्पा जरूर एक मन्दिर रहा होगा क्योंकि त्रिलोकनाथ का राणा तो एक हिन्दू था।

---

1. लामा कुन्गा का वर्णन जी0डी0खोसला ने अपनी पुस्तक Himalayan Circuit के पृष्ठ संख्या 208 पर कुछ इस प्रकार से किया है"
---bearded old scoundrel---in his lecherous eyes".

यह भी तो हो सकता है कि उस समय के त्रिलोक नाथ का राणा एक बौद्ध धर्मानुयायी रहा हो क्योंकि उन्होंने भूटान के तत्कालीन नरेश नवांग नमग्याल को अपना गुरू बनाया हुआ था । कुछ भी हो इस गोम्पे में काले पत्थर की एक मूर्ति है जोकि काली मां की मूर्ति है। यह इस बात का सबूत है कि यह गोम्पा कभी एक हिन्दू मन्दिर रहा होगा ।[1]

इसी गोम्पे में भगवान बुद्ध की मूर्ति के साथ-साथ गुरू पद्मसम्भव और नवांग नमग्याल की भी मूर्तियां रखी हुई हैं। इस गोम्पे की एक विशेष बात यह है कि अन्य गोम्पों की तरह यहां मिट्टी की नहीं अपितु लकड़ी की मूर्तियां है। कहते हैं कि लकडी की इन मूर्तियों की स्थापना लगभग 800 साल पहले किन्नौर के लामा रिन्चेन-जड·पो ने की थी। लाहुल के कई गावों में इस गोम्पे की जमीन है।

3· शशुर गोम्पा :- यह गोम्पा केलंग के उत्तर की ओर शशुर नाम के गांव मे स्थित है। कारदंग और घण्डाढ गोम्पों की तुलना में यह गोम्पा अभी बच्चा सा ही लगता है क्योंकि इस गोम्पे की स्थापना लद्दाख के लामा दवा-ग्यात्छो ने सतारहवी शताब्दी में की थी। इसी कारण दवा-ग्यात्छो की मूर्ति अभी भी इस गोम्पे में सुरक्षित रखी हुई है। इस गोम्पे की विशेषे बात जून-जुलाई के महीने में मनाया जाने वाला मेला होत्ता है जिसे "छ़ेशु" के नाम से जाना जाता है । इस मेले का मुख्य आकर्षण "छम" नृत्य है जिसमें नर्तक विभिन्न प्रकार के मुखौटे पहन कर नाचते हैं । इस नृत्य का जन्म दसवीं शताब्दी में हुआ था ।

इस "छम" नृत्य के प्रादुर्भाव के कारणों के पीछे कई प्रकार की लोक कथाएं सुनने को मिलती हैं। एक लोक-कथा के अनुसार कुछ लोगों ने सन् 841 को तिब्बत के तत्कालीन शासक रलप्छन की हत्या करके लांग-दरमा नाम के एक अन्य व्यक्ति को राजगद्दी पर बिठा दिया ।[2] परन्तु लांग-दरमा एक बहुत ही अत्याचारी शासक सिद्ध हुआ। वह अत्याचारी ही नहीं अपितु बौद्ध-धर्म का कटटर विरोधी भी था। वह लामाओ को शादी करने, शस्त्र उठाने,

---

1· यहां यह बता देना उचित रहेगा कि लाहुल में यह जरूरी नहीं है कि हिन्दू मन्दिर का पुजारी या कारदार एक हिन्दू ही होगा या एक गोम्पे का पुजारी या कारदार एक बौद्ध धर्मानुयायी ही होगा । त्रिलोकनाथ मन्दिर और जाहलमा गांव का हिड़िम्बा मन्दिर इस बात के जीते जागते उदाहरण हैं।

2. Our Cultural fabric, Cultural Heritage of Ladakh, Govt.of India (1978) P. 12.

शिकार खेलने तथा कसाई का काम करने को मजबूर करने लगा। जो भी उसके आदेशों का उल्लंघन करता था उसे तुरन्त ही मृत्यु दण्ड दे दिया जाता था इसलिए लोग बहुत दुःखी थे। एक दिन वह अपने दरबार में बैठा नृत्य का आनन्द ले रहा था। एक नर्तक कुछ ऐसे पोशाक पहने हुए था कि उसके शरीर का एक भी अंग दिखाई नहीं दे रहा था। नाचते-नाचते वह राजा के पास पहुंचा और पलक झपकते ही राजा की छाती पर छुरा घोंप दिया । लांग-दरमा वहीं दम तोड़ गये । एक अत्याचारी राजा की मृत्यु से सब ने चैन की सांस ली। तब से लेकर आज तक लामा लोग "छम" नृत्य करते आ रहे हैं। आज भी नर्तक ढीली-ढाली पोशाक पहनते हैं । ढोल और अन्य वाद्य-यन्त्र वादको की ढोलों का नेतृत्व शशुर गोम्पे का प्रमुख लामा करता है। प्रत्येक नर्तक विभिन्न प्रकार के मुखौटे पहने हुए होता है जोकि प्रेतात्माओं के प्रतीक माने जाते हैं । यही कारण है कि लोग इसे "डेविल-डांस" का भी नाम दे देते हैं। नृत्य ही अभिनय का मुख्य अंग होता है जिसके दौरान कभी-कभी समूह गान भी प्रस्तुत किया जाता है।

इस गोम्पे में "छम" नृत्य से सम्बन्धित मुखौटों का एक बहुत बड़ा संग्रह है। "मने दुङ-ग्युर" और "मने लाखोर" इस गोम्पे में भी हैं। सन् 1888 के अगस्त महीने में हारकोर्ट भी शशुर गोम्पे गये थे। वह उन दिनों तत्कालीन कांगडा जिले के सहायक-आयुक्त थे। उसने अपनी पुस्तक में इस गोम्पे से सम्बन्धित कुछ विवरण दिए हैं।[1]

एक दूसरी कहानी के अनुसार लांग-दरमा के सिर पर दो सींग थे। इन सींगों को लोगों से छुपा कर रखने के लिए उसने लम्बे लम्बे बाल रखे थे। इन बालों को संवारने के लिये हर रोज एक लड़की को बुलाया जाता था। बाल संवार चुकने के बाद उस लड़की को मार दिया जाता था ताकि वह बाहर जाकर लोगों को यह न बता पाये कि उनके राजा के सिर पर दो सींग है। यह क्रम बहुत दिनों तक चलता रहा । एक दिन इसी प्रकार से एक लड़की लांग-दरमा के बाल सवार रही थी। बाल संवारते समय वह रोती भी जा रही थी। अचानक उसके आंसू की एक बून्द राजा के गाल पर जा गिरी। राजा ने उस लड़की से उसके रोने का कारण पूछा। लडकी ने झिझकते हुए बता दिया कि बाल संवार चुकने के बाद उसे मार दिया जायेगा यही सोच कर वह रो रही है। लांग-दरमा को लड़की पर कुछ दया आ गई। राजा ने सोचते हुए कहा कि वह उसे जिन्दा छोड़ सकता है लेकिन वह बाहर जाकर किसी को भी यह नहीं बतायेगी कि राजा के सिर पर सींग हैं । लड़की इस बात को किसी को भी न बताने का वायदा करके महल से बाहर आ गई। कुछ दिनों तक तो वह अपने वचन पर टिकी रही। परन्तु एक दिन ऐसा भी आया कि वह इस बात को छुपा कर न रख सकी। एक दिन वह

---

1 , The Himalayan Districts of Kuloo, Lahaul Spiti A.F P. Harcourt, (1972) P. 101.

खेतों पर गई वहां उसने एक गड्ढा बनाया और उस गड्ढे के अन्दर जाकर चीख-चीख कर कहने लगी कि राजा के सिर पर दो सींग हैं। उसके बाद उसने उस गड्ढे को पूरी तरह से मिट्टी से ढ़क दिया। कुछ दिनो के बाद उस गड्ढे के ऊपर एक ऐसा पौधा उगा जोकि हवा का झौंका खाते ही गुनगुना उठता था कि राजा के सिर पर सींग हैं। धीरे-धीरे यह बात सबको मालूम हो गई कि लांग दरमा के सिर पर सींग हैं। जनता इस अनहोनी सी चीज को कैसे सहन कर सकती थी। जिसका नतीजा यह निकला कि लांग-दरमा एक नर्तक के हाथों मारा गया।

इस तरह से यह उत्सव बौद्ध-मत के विरोधी तत्वों का उन्मूलन करने के उद्देश्य से हर साल जून-जुलाई के महीने में मनाया जाता है। "छेशु" तिब्बती पंचांग के पांचवे महीने के दसवें दिन गुरू पद्मसम्भव के जन्म दिन के रूप में मनाया जाता है। कहते हैं कि उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि वे हर महीने के दसवें दिन सूर्य की किरणों की सवारी करते हुए इस धरती पर आयेंगे और पांचवें महीने के दसवें दिन अपने विश्वासी गणों को दर्शन देंगे।

गोम्पे के बाहर तीन "छोरतेन" है जिनमें से एक की ऊंचाई छः मीटर के करीब है। गोम्पे के चारों ओर एक गलियारा है जिसकी दीवारों में पीतल के "मने-लाक्खौर" लगे हुए हैं। गोम्पे की परिक्रमा करने वाले लोग दांए से बाईं ओर घूमते हुए इनके ऊपर हाथ फेरते जाते हैं। हाथ फेरते ही ये अपनी धुरी के इर्द-गिर्द घूमते हैं । भगवान बुद्ध की अनेकों मूर्तियों के साथ साथ यहां मूर्तियां और भी हैं जिनमें से एक नवांग-नमग्याल की तथा दूसरी दवा-ग्यात्छो की बताई जाती है। लाहुल-स्पिति गजेटियर के अनुसार दवा-ग्यात्छो एक लद्दाखी थे जबकि श्री गिल के अनुसार वे एक धर्म-प्रचारक थे और उन्हें भूटान के शासक नवांग-नमग्याल ने धर्म प्रचार के लिए लाहुल भेजा था ।[1]

दवा-ग्यात्छो के उदाहरण से एक बात साफ हो जाती है और वह यह कि लाहुल का तिब्बत, भूटान और सिक्किम के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध रहा है। सन् 1897 में प्रकाशित "कागड़ा डिस्ट्रक्ट गजेटियर" लिखता है कि घण्ड़ाढ गोम्पा हर साल तीस रूपये शुल्क के रूप में लद्दाख के तगना गोम्पे को भेजता था जहां से कि वह पैसा भूटान के यड॰-तड॰ देचिलिंग नाम के गोम्पे को भेजा जाता था। इससे यह बात साफ हो जाती है कि दवा-ग्यात्छो लद्दाख का ही रहा होगा और वह धर्म प्रचार के लिए लाहुल आये होंगे।

लाहुल के लामा शिक्षा ग्रहण करने के लिए भूटान और सिक्किम से होकर तिब्बत तक जाया करते थे क्योंकि लाहुल में इसकी सुविधा उपलब्ध नहीं थी। चीन के

1. Himalayan Wonderlands, Travels in Lahoul-Spiti, M.S. Gill, सोमसी/1989

साथ हमारे सम्बध बिगड़ जाने के कारण अब तिब्बत जा पाना आसान नहीं रह गया है। इसलिए ये लोग अब भूटान, सिक्किम और लद्दाख जाते हैं। अगर किसी कारणवश यह भी सम्भव न हुआ तो किसी प्रवासी तिब्बती लामा को ही किसी गोम्पे का प्रधान लामा बना दिया जाता है जैसे कि कारदंग के लामा कुन्गा ने एक प्रवासी तिब्बती लामा हिशे-रंगदोल को कारदंग गोम्पे का मुख्य लामा बना दिया था।

हमने ऊपर दो शब्दों का बार-बार प्रयोग किया है और वे दो शब्द हैं "छोरतेन" और "मने" । इसलिए अच्छा होगा अगर हम कुछ इन के बारे में भी जानकारी हासिल कर लें। पत्थर और मिट्टी से बने शंक्वाकार स्तम्भों को "छोरतेन" का नाम दिया जाता है जिसके ऊपर लकड़ी का एक और स्तम्भ लगा होता है जिसमें सब से ऊपर कमल का फूल और उसके नीचे चांद और सितारे बने होते हैं। शुरू में तो किसी मशहूर लामा के अवशेषों को सुरक्षित रखने के लिए ही "छोरतेन" बनाये जाते थे। परन्तु समय के साथ-साथ सामन्तों और अन्य साहूकार परिवार के लोगों ने भी "छोरतेन" बनाना शुरू कर दिया। लाहुल के पट्टन घाटी मे साहूकारों द्वारा बनाये गये "छोरतेन" जाहलमा और नालड़ा इत्यादि गांवो में पाये जाते है। जाहलमा गांव के "छोरतेन" तो गांव के बाहर खेतों में हैं जबकि नलड़ा गांव के साहूकार परिवार ने दो छोटे-छोटे "छोरतेन" अपने घर के छत पर ही बना डाले थे जिन्हें पुराने मकान के साथ-साथ इस साल गिरा दिया गया है क्योंकि उन्होंने अब एक नया मकान बना लिया है, यहां यह बता देना उचित रहेगा कि नालड़ा गांव के इन दो छोरतनों के अन्दर किसी मनुष्य की राख इत्यादि नहीं अपितु किसी मनौती के पूर्ण होने पर किसी लामा के कहने पर ये बनाये गये थे और इनके अन्दर विभिन्न प्रकार की कीमती चीज़ों के कुछ टुकड़े रखे हुए थे।

एक समय ऐसा भी आया जबकि आम लोगों ने भी अपने प्रिय जनों की समाधि के ऊपर "छोरतेन" बनाना शुरू कर दिया। इस प्रकार के कई "छोरतेन" लाहुल के पट्टन घाटी के जुण्डा नाम के गांव मे देखने को मिलते हैं। ये छोरतेन सन 1979 के ग्लेशर§ (Glaciar) § में मरे हुए लोगों की यादगार में उनके समाधि-स्थल पर बनाये गये है।

जानकार लोगों का कहना है कि बनावट के हिसाब से "छोरतेन" आठ प्रकार के होते हैं। इन्हें जानकार लोग ही पहचान सकते हैं। सम्पूर्ण लाहुल मे केवल एक स्थान है जहां कि आठ प्रकार के ये सभी छोरतेन एक साथ एक ही जगह पर देखे जा सकते हैं और वह स्थान है भागा-वादी के गुमरंग नाम के गांव के तोम्बा गोम्पे मे। "छोरतेन" के किस्मों की संख्या आठ ही क्यों हैं इससे अधिक या कम क्यो नहीं । कहते हैं कि जब भगवान बुद्ध का निर्वाण हुआ था उस समय उनकी हड्डियों और अन्य अवशेषों को आठ

नरेश ले गये थे। तब से लेकर आज तक यह आठ प्रकार के ही "छोरतेन" बनते आ रहे हैं।

शुरू-शुरू में तो "छोरतेन" के अन्दर हड्डियों और राख के साथ-साथ कुछ सोना, फीरोजा, अनाज के कुछ दाने, सफेद कपड़े के टुकड़ों (पवित्रता के द्योतक) या भोज पत्र के ऊपर तिब्बती भाषा मे लिखे कुछ मन्त्र इत्यादि भी रखे जाते थे। अब इस मंहगाई के जमाने में कीमती चीजों को इन छोरतेनों के अन्दर रखना लगभग असम्भव सा ही हो गया है। अब शायद कोई भी लोग चाहते हुए भी इन चीजों को "छोरतेन" के अन्दर रख नहीं पाते हैं।

वैसे तो "छोरतेन" एक बौद्ध धर्मावलम्बियों की वस्तु थी परन्तु जैसे कि हम पहले ही देख चुके हैं समय के साथ-साथ इसे हिन्दुओं ने भी अपनाना शुरू कर दिया है। जुण्डा गांव के छोरतेन हिन्दु परिवारों द्वारा बनवाये गये हैं। इसी प्रकार से "मने" के अन्दर भी साधारण कागज या भोज पत्र पर तिब्बती भाषा के मन्त्र लिख कर डाल दिये जाते है। "मने" का निर्माण कुछ इस प्रकार से किया जाता है कि उनको नाम मात्र का भी धक्का देने से वे घूम जाते हैं और अपनी धूरी के इर्द-गिर्द चक्कर लगाने लगते हैं। "मने" के अन्दर जितने भी मन्त्र और ईश्वर-स्तुति लिखी गई हैं उन सभी मन्त्रों आदि को, "मने" घुमाने वाले व्यक्ति की ओर से उतनी ही बार पढ़े गये माने जाते हैं जितनी बार कि "मने" एक धक्का लगाने से घूमता है। यही कारण है कि इन से अधिक से अधिक चक्कर कटवाने के लिए कहीं पर पानी तो कहीं पर वायु की शक्ति को भी प्रयोग मे लाया जाता है ताकि वे निरन्तर घूमते रहें और लोगों की ओर से भगवान का गुणगान करते रहें। भगवान में आस्था रखने का कितना निष्कपट, सहज और सरल तरीका है यह । लाऊड-स्पीकरों पर चीख-चीख कर भजन और कीर्तन गाने के विपरीत ये लोग किसी बीमार के आराम और किसी विद्यार्थी की पढाई में खलल तो नहीं करते है। एक "मने" और भी होता है जिसे अंग्रेजी में कह सकते हैं। यह दीवार सामान्यतयः सडक के चौराहों पर बने होते हैं। कही-कही पर तो यह सैकड़ों मीटर लम्बा होता है।

यहां पर हम 'ड्रिल्बू' पहाड़ की "कोरो"-परिक्रमा का भी वर्णन कर ले तो अच्छा रहेगा । बौद्ध-धर्म के लोग इस "ड्रिल्बू" पहाड़ की परिक्रमा करने को उतना ही पवित्र मानते हैं जितना कि हिन्दु धर्म के लोग मानसरोवर झील का दर्शन करना पवित्र मानते है। ड्रिल्बू का कोरो गोम्पों में जाने से भी अधिक पवित्र माना जाता है। ड्रिल्बू "कोरो" के लिए कारदंग गांव से होकर जाते हैं और पहाड़ के दूसरी ओर गूंधला गांव में पहुंचते हैं। पहाड़ के ऊपर चढ़ने पर यात्रियों को दो और चोटियां दिखाई देती हैं।

एक को धर्म की चोटी तथा दूसरी को पाप की चोटी का नाम दिया जाता है ।ऊंचाई की दृष्टि से धर्म की चोटी पाप की चोटी से कुछ छोटी है और इसका कारण दुनिया मे पाप का दिन प्रतिदिन बढना बताया जाता है। कहते हैं कि किसी जमाने मे धर्म की चोटी पाप की चोटी से उंची थी क्योंकि उस समय धर्म का बोल बाला था।

सतारहवीं शताब्दी मे जस्कर में एक सन्त कवि हुए थे जिनका नाम वाग-छेरिग था।[1] इस सन्त ने डिल्बू जोत के बारे मे एक सुन्दर कविता लिखी थी जिसका भावार्थ कुछ इस प्रकार से है:-

"यह पवित्र जगह जो हीरे से बनी घण्टी के आकार की है अक्ल और दया प्रदान करने वाली है। यहां स्वर्ग के देवी-देवता आकर मिलते हैं। निष्ठावान लोग यहां आकर दया और सद्‌बुद्धि दो पुण्य कमाते हैं और पापी लोग अपनी निर्दयता और वेअकली के इन दो पापों को शुद्ध करते हैं। अर्थात् इन पापों से मुक्त होते हैं। यहां आकर धार्मिक लोग अपने अच्छे और बुरे का ज्ञान कराने वाले अनुभवों और ज्ञान में वृद्धि करते हैं। यहां धूल [अर्थात् गन्दगी] को हवा उड़ाकर ले जाती है। बादल ऊपर को उठते हैं। यहां वर्षा की सौम्य बून्दे टिकती नहीं। यहां पर पुराने और नये अर्न्तज्ञान एक दूसरे से अलग होते हैं और नये अनुभव और नये अन्तर्बोध पैदा होते हैं ।

इस जगह के दाईं और बाईं और विभिन्न प्रकार के फूल खिलते हैं। सामने मण्डल बना है। तीन घाटियों के बीच में यह एक त्रिकोना सा स्थान है। ड्रिल्बू के दाईं ओर का पहाड़ एक रौद्र देवता के समान है। सामने का पहाड़ किताबों का ढेर समान तथा पीछे का पहाड़ एक शेर के समान लगता है। कितना पवित्र स्थान है यह । पहले यहां ऋषि-मुनि रहा करते थे। भविष्य में भी यहां धार्मिक और निष्ठावान लोग आते रहेंगे। भगवान करे इस स्थान पर सदा शान्ति बनी रहे ।"

इस कविता से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ड्रिल्बू पहाड़ की परिक्रमा करना शायद लद्‌दाख के लोगों के लिए भी आवश्यक माना जाता है।

आइये अब स्पिति के कुछ प्रसिद्ध गोम्पों के बारे में भी कुछ आवश्यक जानकारी प्राप्त कर लें। स्पिति के प्रमुख गोम्पे कीह ताबो, किब्बर और डंखार गांव में स्थित हैं।

1. कीह गोम्पा :- कीह गोम्पा स्पिति का सबसे बड़ा गोम्पा है। यह स्पिति नदी के बाईं ओर किब्बर और काजा गावों के मध्य स्थित है। इस गोम्पे में सैंकडों लामाओं को प्रशिक्षण मिलता है। यह गोम्पा धार्मिक ग्रन्थों और भिति-चित्रों के बहुमूल्य संग्रह के लिए मशहूर है। दूर से यह गोम्पा एक पहाड़ी किला सा लगता है। पहाड़ी टीले पर स्थित होने के कारण यह दूर से ही दिखाई देता है। इस गोम्पे में बहुत सारे कमरे और इन कमरों को जोड़ते कई गलियारे हैं जिन्हें तगं और अंधेरी सीढियां एक दूसरे

1 . Our Cultural Fabric, Cultural heritage of Ladakh P. 81

से जोड़ती हैं। 19जनवरी सन् 1975 के दिन आये भयंकर भूकम्प ने इस गोम्पा के भित्ति-चित्रों को बहुत नुकसान पहुंचाया है।

इस गोम्पे की एक विशेष बात "गुई-थोर" नाम के त्यौहार के समय नाचा जाने वाला "दानव-नृत्य" है । यह नृत्य शशुर गोम्पे के "छेशु" के दौरान पेश किया जाने वाला "छम" नृत्य जैसा ही है। नर्तक वैसे ही मुखौटे और ढीली-ढाली चोगानुमा कीमती पोशाक पहने हुए होते हैं जैसे कि "छम" नृत्य के दौरान । इस नृत्य में भी ठीक उसी प्रकार से बुराई के ऊपर सच्चाई की जीत होती हुई दिखाई जाती है। अन्तर केवल इतना है कि शशुर का "छेशु" जून/जुलाई के महीने में मनाया जाता है तब कि "गुइ-थोर" आम-तौर पर नवम्बर के महीने में मनाया जाता है।

2. ताबो गोम्पा - हिमाचल प्रदेश के अजन्ता के रूप मे मशहूर यह गोम्पा ताबो नामक गांव में स्थित है जिसकी समुद्रतल से ऊंचाई लगभग 9913 फुट है। 19जनवरी,1979 के भूचाल ने इस गोम्पे के भित्ति-चित्रों को भी बहुत नुकसान पहुंचाया है। गोम्पे की दीवारों में पड़ी दरारों के कारण बहुत से भित्ति-चित्र नष्ट हो गये हैं। यह एक बहुत बड़ा गोम्पा है जिसमें लगभग 50 लामा रहते हैं। यह गोम्पा मिट्टी से बनी मूर्तियां, भित्ति-चित्र और बौद्ध धर्म ग्रन्थों के संग्रह के कारण मशहूर है। कहा जाता है कि इस गोम्पे की स्थापना लामा रिन-चैन ज़ंग्पो (ई0 956-1054) ने की थी जिनका भारतीय नाम रत्नभद्र था। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि दसवीं शताब्दी के अन्त तक यह मठ स्थापित हो चुका था। कहते हैं कि भारतीय विद्वान अतीश(ई0 982-1054) जिनका तिब्बती नाम जो-बो-रजे था, भी ताबो गोम्पा आये थे। वह एक राज-परिवार से था। इसने बहुत कम आयु में बौद्ध भिक्षु बनने के लिये सब सांसारिक सुखों को त्याग दिया था। अतीश की विद्वता से रिन-चेन-ज़ंग्पो बहुत प्रभावित हुए थे। इसीलिए इन्होंने अपने आप ही अतीश के अनुवाद के कार्य में सहायता करनी शुरू की थी।

ताबो का गोम्पा महायान सम्प्रदाय के "गेलुक्पा" उप-सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इस सम्प्रदाय की स्थापना लामा चौंखापा ने की थी।[1] इस गोम्पा में नौ बड़े-बड़े कक्ष हैं जिनके नाम कुछ इस प्रकार से हैं, (1) डु-वांग (अर्थात् समाधि कक्ष या अभिषेक कक्ष (2) जेल्मा (3) गोखांग(मन्दिर के बाहर बरामदे में बना कक्षा ,(4) जम्बा - चिलपो 2 (अर्थात् तिनके का घर), (5) दोमलांग, (6) लांग- चेड़वो , (चिलखग) चेड़वो, चिलखंग (8) शेर-लांग और (9) लांगर-चुंग । गांव के पास ही एक स्थान

1 . डा0 विश्व चन्द्र ने(सोमसी, जनवरी 1980 पृष्ठ 4 मे) इस महानुभाव का नाम शौख-पा दिया है जो ठीक नहीं है।

2 . डा0 विश्व चन्द्र(सोमसी, जनवरी 1980 पृष्ठ4) में "जम्बा-चिलपो को चम्बा-चिबो" का नाम दिया है जोकि उचित नहीं जान पड़ता है।

छब्बीस "छोरतेन" है। यह "छोरतेन" उन छोरतेनो के अतिरिक्त है जो गांव के अन्य दूसरे भागों में पाये जाते हैं। गोम्पा की आन्तरिक छतें शहतीरों और तख्तों से बनी हैं। तख्तों के ऊपर चित्रकारी की गई है। क्योंकि स्पिति में विरोचन आदि बुद्ध, सर्वोच्च बुद्धि का प्रतीक, सबसे अधिक लोकप्रिय देवता है, इसीलिए ताबो गोम्पा के डू-वांग अर्थात् मुख्य कक्ष में "विरोचन" की प्रतिमा रखी हुई है। इस मुख्य प्रतिमा के सामने, एक ऊंचे से स्थान पर बत्तीस मूर्तियां और हैं जोकि सभी की सभी बैठी हुई मुद्रा में हैं। "डू-वांग" के चारों ओर की दीवारों को महायान बौद्ध के विभिन्न देवी-देवताओं तथा जातक कथाओं के दृश्यो के साथ-साथ भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित चित्रों द्वारा अलंकृत की गई हैं। ऊपरलिखित सभी नौ कक्षों की सभी दीवारें चित्रों को संजोये हुए हैं। यही कारण है कि इस गोम्पे को हिमाचल प्रदेश की अजन्ता कहा जाता है।

"जम्बा-चिलपो" कक्ष में भगवान मैत्रेय-भविष्य के बुद्ध की एक विशाल आकृति है जो कि लगभग अठारह फुट ऊंची है। ताबो गोम्पे के नज़दीक उत्तर की ओर, पहाड़ की ढ़लान पर कुछ कमरे और भी हैं। इन कमरों की दीवारों पर भी चित्रकारी की गई है। सही मानो में देखा जाये तो ये कमरे नहीं अपितु गुफाएं हैं जिन्हें सर्दियों में लामाओं के रहने के लिए प्रयोग में लाया जाता है, क्योंकि ठंडी हवाओं के अन्दर आने के लिए रास्ता न होने के कारण कमरों की तुलना में गुफाएं ज्यादा गर्म और आरामदायक होती है। इस गोम्पे में बौद्ध धर्म ग्रन्थों का एक बहुत बड़ा भण्डार है।

एक हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी चित्रकारी और अनेक बहुमूल्य मूर्तियों इत्यादि के होने के कारण भारत सरकार के पुरातत्वीय सर्वेक्षण (Archaeological Survey of India) ने इस गोम्पे को राष्ट्रीय महत्व का मठ घोषित कर दिया है ताकि इस गोम्पा के बहुमूल्य सांस्कृतिक धरोहर को भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखा जा सके। इसके लिये सन् 1975 से लेकर हर साल गर्मियों के महीनों में इस विभाग के संरक्षण तथा रसायन परिरक्षण युनिट के सदस्य नियमित रूप से यहां आते हैं तथा राष्ट्रीय महत्व के इस मठ के उचित रख-रखाव तथा अनुरक्षणके लिए काम करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इतिहासकारों और कला-प्रेमियों को प्रदान करने के लिए ताबो गोम्पा के पास वे सब कुछ हैं जिसकी ये अपेक्षा करते हैं।

3. डरवार गोम्पा-स्पिति नदी की बाईं ओर काज़ा से लगभग 24 किलो मीटर की दूरी पर यह गांव स्थित है। नदी सतह से लगभग 990 फुट ऊंची एक पहाड़ी के टीले पर यह बसा हुआ है। इस गांव की समुद्रतल से ऊंचाई लगभग 12600 फुट है। इस स्थान पर स्पिति घाटी काफी खुली है। "नोनो" के शासन काल के समय यह गांव स्पिति घाटी की राजधानी हुआ करता था। गांव के नज़दीक ही डंखार किला है। अपने ज़माने में

यह किला बहुत बदनाम था। कहते हैं कि स्पिति का शासक "नोनो" इस किले को एक जेल के रूप में प्रयोग में लाता था। इस किले में एक ऐसा कमरा था जिसमें न तो खिडकियां थी और न दरवाजे केवल छत पर एक सुराख हुआ करता था जहां से कि हर प्रकार के कैदियों को नीचे फेंक दिया जाता था । उस अन्धेरी काल कोठरी मे कुछ दिन जिन्दा रहने के बाद वे स्वयं ही घुट-घुट कर मर जाते थे ।

इस गोम्पे में भी बौद्ध धर्म ग्रन्थों का काफी अच्छा संग्रह उपलब्ध है। इस गोम्पे का यहां के लोगों के सामाजिक और आर्थिक मामलों पर कितना प्रभाव रहता होगा, इसका अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि सन् 1961 की जनगणना के अनुसार उस समय इस गांव की कुल जनसंख्या 168 के लगभग 60 प्रतिशत लोग "लामा" और "चोमो" " (NUNS) थे और वे सभी के सभी इसी गोम्पे में रहते थे।

वैसे तो स्पिति के लगभग हर गांव में एक गोम्पा देखने को मिलता है फिर भी पिन घाटी का लालुङ गोम्पा और किब्बर गांव का गोम्पा देखने योग्य हैं। किब्बर गांव की समुद्रतल से ऊंचाई लगभग 13600 फुट है। यह गांव संसार के सबसे ऊंचे गांवों में से एक है।

किन्नौर में गोम्पा मोरंग तहसील और हंगरंग उप-तहसील के कुछ गावों में पाये जाते हैं। हंगरंग उप-तहसील में पाये जाने वाले कुछ गोम्पे नाको, चाङ-गो, लिओ और श्यालखर गांवों में हैं। पुह तहसील के स्पिलो गांव में भी एक गोम्पा है परन्तु इन सब में से महत्वपूर्ण नाको गांव का गोम्पा है।

1. नाको गोम्पा - नाको गांव समुद्रतल से लगभग 1300 फुट की ऊंचाई पर स्थित हैं। यहां के लोग नाको गोम्पा को लोत्रा-लखङ के नाम से जानते हैं। इस गोम्पे को स्थापित करने वाले लोचा-रिन्छेन-ज़ंग्पो नाम का एक विद्वान लामा थे, जबकि "लखङ" का मतलब होता है मन्दिर अर्थात वह स्थान जहां किसी देवी या देवता की पूजा की जाती है। इसलिए इस गोम्पे का नाम "लोचा-लखङ" पड़ गया । नाको गोम्पे में स्पिति के ताबो गोम्पे की तरह नौ कक्ष तो नहीं हैं फिर भी यहां चार कक्ष जरूर है जिनके नाम कुछ इस प्रकार से हैः (1) लखङ-छेदमो, (2) ज्ञमग-लखङ, (3) करचुड लखङ और लखङ- गोम्मा ।

"छेदमो" शब्द का मतलब होता है "बड़ा," और यह तिब्बती भाषा का शब्द है। यही कारण है कि "लखङ-छेदमो" अपने नाम के अनुरूप ही ऊपरलिखित सभी चारों कक्षों में सबसे बड़ा है। ताबो गोम्पे की तरह ही नाको गोम्पे मे स्थापित मुख्य प्रतिमा

1. श्री छेरिंग दुगे, सोमसी, जनवरी 1980, पृष्ठ 31-32.

भी "विरोचन" की ही है। ताबो-गोम्पे में मुख्य प्रतीमा के सामने बत्तीस{32} मूर्तियां हैं जबकि नाको के गोम्पे में विरोचन की प्रतिमा के सामने सैंतीस मूर्तियां हैं, परन्तु आकृ-ति में ये कुछ छोटी है। यहां भी गोम्पे की दीवारों को विभिन्न प्रकार के चित्रों से अंलकृत किया गया है। इन भित्ति-चित्रों में ज्यादातर विरोचन का ही वर्णन देखने को मिलता है। इन भित्ति-चित्रों की एक विशेष बात यह है कि इनको चित्रित करने के लिए शुद्ध सोने को खूब प्रयोग में लाया गया है परन्तु उचित सुरक्षा प्रबन्ध के आभाव के कारण कुछ सोने को या तो लोग कुरेद कर निकाल ले गये हैं या स्वयं ही दीवारों से झड़ जाने के कारण गुम हो गये हैं। इसलिए अगर समय रहते कुछ उचित कदम न उठाया गया तो कुछ अरसे के बाद जो कुछ बाकी बचा हुआ है वह भी नहीं रहेगा।

यहां चांदी और तांबे से बना एक "छोरतेन" भी है। यहां दोवङ नाम के बौद्ध धर्म ग्रन्था की एक पाण्डुलिपि भी है जिसके दो पृष्ठ स्वर्ण अक्षरों में लिखे हुए हैं।

"छम" नृत्य के लिए लामा लोग झमग् का मुखौटा पहन कर "झमग्-लखङ से निकलते हैं। शायद यही कारण है कि इस कक्ष का नाम "झमग्-लखङ पड़ा। यहां विभिन्न प्रकार के मुखौटे रखे जाते हैं। वैसे तो इस कक्ष में कोई प्रतिमा नहीं रखी है फिर भी इसकी सभी दीवारें चित्रों से भरी पड़ी हैं। इसी प्रकार से "करचुड़-लखड़" में भी कोई मूर्ति नहीं है। इस कक्ष की दीवारें भी भित्ति-चित्रों से भरी पड़ी हैं। "लखड़-गोम्मा", "लखङ-छेदमो के ऊपर की ओर है। शायद यही कारण है कि इस कक्ष का नाम "लखङ-गोम्मा" पड़ा हो क्योंकि "गोम्मा" शब्द का अर्थ ऊपर या ऊपर की ओर होता है। इस कक्ष में दस मूर्तियां हैं जिन्हें कि दस दिशाओं के बुद्ध के प्रतीक माने जाते हैं।

नाको गांव में तीन छोटे-छोटे "लखङ" और भी है जिनके नाम हैं:-
{1} जबजे-लखड़, {2} दुङ ग्युर-लखङ-गोंग्मा तथा {3} दुङ ग्युर-लखङ योग्मा। योम्मा शब्द का अर्थ होता है नीचे वाला अर्थात् यह गोग्मा का विपरीतार्थक शब्द है। इन तीनों में से जबजे लखङ काफी प्रसिद्ध है। इस लखङ में एक पत्थर है जिसके ऊपर एक मानव के दायें पैर का निशान है। इसी कारण इस का नाम "जबजे-लखङ" पड़ा क्योंकि जबजे शब्द का मतलब पाव का निशान होता है। कहते हैं कि यह आचार्य पद्मसम्भव के पांव का निशान है। इसीलिए इस पत्थर के ऊपर पद्मसम्भव की एक मूर्ति रखी हुई है। 'दुङ्ग्यर' एक विशाल आकार का धर्मचक्र होता है जोकि आमतौर पर पीतल, तांबा या लकड़ी का बना होता है।

2. रिब्बा गोम्पा: नाको गांव के "जबजे-लखङ" की तरह ही एक गोम्पा किन्नौर के रिब्बा गांव में भी है। कहते हैं कि इस गोम्पे का निर्माण लामा लोचा-रिम्बोछे ने किया

यह विश्वास किया जाता है कि रिम्बोछे ने अपनी मां की यादगार को ताजा रखने के लिए किन्नौर और लाहुल-स्पिति इलाकों में 108 गोम्पे (एक माला के मनकों की कुल संख्या के बराबर) बनवाये थे जिनमें से एक रिब्बा गांव का यह गोम्पा है। आज भी एक पत्थर के ऊपर अंकित लोचा-रिम्बोछे का पद-चिन्ह इस गोम्पे के पीछे सुरक्षित है। इसी गोम्पे में बौद्ध धर्म के "कङ-ग्युर" और "तङ-ग्युर" ग्रन्थों की सैंकडों पोथियां मौजूद है। गांव के ऊपर एक विशाल बौद्ध स्तूप है जिसका नाम "मौलड्ङ-छोरतेन" है। इसी के पास है मां दुर्गा का एक छोटा सा मगर प्राचीन मन्दिर ।

किन्नौर में बौद्ध-धर्म के लोगों के कई और प्रकार के भी पूजा के स्थान होते हैं जिन्हें कहीं तो "लखांग" तो कही"लवरंग" तो कही ग्लदन-छोड़कर (ज्ञलुक्पा-सम्प्रदाय) इत्यादि नामों से जाने जाते हैं। युला, पांगी (कल्पा तहसील), कामरू, सांगला, चांगो, मांलिग, नाको, सुमरा, टशीगांग, ग्यावोग, नमग्या, पुह, रोपा, जांगी, लिप्पा थांगी, रिब्बा, रिस्पा, सर नेसांग रंगरीतो तथा मोरंग इत्यादि गांवों में "ल-गांग" कहा जाता है तथा कानम तथा नेसांग गांवों में "लवरंग" लिप्पा में "ग्लदन-छोडकर" और "कड-ग्यूर के मन्दिर तथा असरंग गांव में "कर-ग्युर छेरिंग" का मन्दिर है। कानम के बौद्ध मन्दिर में तो एक विश्वकोष है जिसके 225 जिल्द हैं।[1] जेकमान्ट नाम के एक यात्री के अनुसार तिब्बती भाषा का यह विश्वकोष संस्कृत का अनुवादित रूपान्तर है। इस मन्दिर में ब्रह्म-विज्ञान की भी एक किताब है जिसकी 100 जिल्द हैं।

आईये अब लद्दाख के कुछ मुख्य गोम्पों के बारे में भी कुछ जानकारी प्राप्त कर लें। लद्दाख के प्रमुख गोम्पे थिक्सी, हेमिस, सकार, शी, फीयाग स्पीटु लामायुरु, मुल्बेक लेह तथा अल्ची और लिकिर इत्यादि गावों में है।

1 हेमिस गोम्पा - यह गोम्पा लद्दाख का सबसे बड़ा ही नहीं अपितु सबसे ज्यादा महशहूर भी है। हेमिस गोम्पा मनाली-लेह राष्ट्र मार्ग पर लेह से लगभग 40 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह गोम्पा रत्न जड़ित सोने की मूर्तियों तथा बहुमूल्य "थान्काओं" के लिए मशहूर हैं। सबसे बड़े "थान्के" को ग्यारह वर्ष के अन्तराल के बाद ही प्रदर्शित किया जाता है। यहां हर साल जून के महीने में एक मेला लगता है जिसे देखने के लिए विदेशों तक से पर्यटक आते हैं। इस मेले की विशेष बात लामाओं द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला नृत्य होता है।

2. थिक्से गोम्पा - हेमिस जाने वाले मार्ग पर ही थिक्से गोम्पा आता है। इस गोम्पा में पचास से भी अधिक लामा रहते हैं। यह गोम्पा अपने भित्ति-चित्रों के लिए मशहूर है। इस गोम्पे में अनेक कक्ष हैं जो विभिन्न प्रकार के "थान्काओं" और मूर्तियों से भरे पड़े हैं।

---

1. District Gazettier of Kinnaur, 1971, P.324

3. शी गोम्पा थिक्से गोम्पे की तरह, शी गोम्पा भी हेमिस गोम्पा जानें वाले मार्ग पर स्थित है। इस गोम्पे की सब से महशहूर चीज़ भगवान बुद्ध की एक विशालयकाय तांबे की मूर्ति है जिसपर सोने का मूलम्मा चढाया हुआ है। यह मूर्ति लगभग दो मंजिल ऊंची है। इस गांव में लेह के राजघराने का एक महल भी है। इस महल में एक स्तूप है जिस का कलश शुद्ध सोने का है ।

4. फीयांग गोम्पा :- यह "लाल-टोपी" सम्प्रदाय के लोगों का गोम्पा है। यह गोम्पा श्रीनगर-लेह राष्ट्र मार्ग पर लेह से लगभग बीस किलोमीटर पहले आता है। इस गोम्पे में भी "थान्कभी "थान्काओ" और बौद्ध धर्म से सम्बन्धित बहुमूल्य मूर्तियों का एक संग्रह उपलब्ध है।

5. संकार गोम्पा :- लेह से केवल तीन किलोमीटर की दूरी पर संकार गोम्पा आता है । इस गोम्पे के मुख्य लामा का नाम कुशक-बकुला है। आप जम्मू-काश्मीर सरकार में मुख्यमन्त्री रह चुके हैं । आप आजकल भारत सरकार द्वारा स्थापित अल्प-संख्यक आयोग के सदस्य है। उस गोम्पे में सोने से बनी सैंकड़ों छोटी-छोटी मूर्तियां है। यहां कई प्रकार के दुलर्भ चित्र भी हैं।

6. स्पीतुक गोम्पा :- यह गोम्पा भी लेह के नजदीक ही है। इस गोम्पे की मुख्य जायदाद इसके "थान्के" हैं। इस गोम्पे के एक कक्ष में काली माता की बहुत सारी मूर्तियां हैं। इन मूर्तियों की इस गोम्पे में होने की बात कुछ समझ में नहीं आती है। कुछ भी हो इन मूर्तियों के चेहरे हमेशा ढक कर रखे जाते हैं। इन मूर्तियों के चेहरों से पर्दे साल में केवल एक बार लोगों के दर्शनार्थ हटाये जाते हैं, जब वहां एक मेला लगता है। यह मेला सामान्यतया जनवरी के महीने में मनाया जाता है। सकार और स्पीतुक दोनों गोम्पों में अब बिजली भी पहुंच चुकी है।

7. अल्ची और लिकिर गोम्पा - यह दोनों गोम्पे सस्योल नाम के गांव के नजदीक स्थित है। इन गोम्पों का मुख्य आकर्षण इनके एक हजार साल पुराने भित्ति-चित्र हैं। इन गोम्पों की एक ओर विशेषता कच्ची मिट्टी से बनी भगवान बुद्ध की विशाल मूर्तियां हैं। अल्ची गोम्पा कला के इस बहुमूल्य खज़ाने के लिए ही तो बहुत मशहूर है। रिन्छेन-ज़ंग्पो को इस गोम्पे का संस्थापक माना जाता है।

8. लामायुरू गोम्पा इस गोम्पे का संस्थापक, काश्मीर के प्रसिद्ध भिक्षु नरोपा माने जाते हैं। भिक्षु नरोपा "पीली-टोपी" सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे। इसी कारण लामायुरू गोम्पा भी इसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है। इस गोम्पे में अवलोकितेश्वर (चेन-रज़िक) की एक बहुत बड़ी मूर्ति है जिसके ग्यारह सिर और एक हजार हाथ हैं। इस गोम्पे की कई इमारतें

हैं जो "धान्काओं" चित्रों और छोटी-छोटी अनगिनत मूर्तियों से भरे पड़े हैं।

9. लेह के गोम्पे : लद्दाख का मुख्यालय होने के कारण यहां कई गोम्पे हैं जिनमें से प्रमुख गोम्पा राजा के महल के पीछे है। इस गोम्पे का नाम "छेमो" है। यहां मैत्रेय बुद्ध की एक बहुत बड़ी प्रतिमा है। पत्थर की बनी मैत्रेय बुद्ध की एक विशाल मूर्ति मुलबेक गांव में भी है।

लद्दाख के कुछ अन्य महत्वपूर्ण गोम्पे जंस्कर घाटी के रग्दुम और पदम गांवों में तथा नुबरा घाटी के दिस्कित और समूर गांवों में स्थित हैं। यहां यह बता देना उचित होगा कि हेमिस, फीयांग, स्पीतुक, शी, रेजोग, संकार, लिकिर, थिक्से तथा चिमरे गोम्पों के मुख्य लामाओं को "कुशोक" के नाम से जाने जाते हैं। लामा बनाया जाता है पैदा नहीं होता जबकि "कुशौक" पैदा होता है बनाया नहीं जाता । कहने का मतलब यह कि "कुशौक" एक अवतारी पुरूष होता जबकि "लामा" एक साधारण व्यक्ति ।

काश्मीर के परिहासपुरा नामक स्थान में स्थित बौद्ध स्मारकों को सुरक्षित रखने के लिए भारत सरकार के पुरातत्वीय सर्वेक्षण विभाग ने काम करना शुरू कर दिया है। इसी प्रकार सन् 1986 से लददाख के कई स्थानों में स्थित बौद्ध स्मारकों और गोम्पों को सुरक्षित करने के लिए इस विभाग ने काफी काम किया है।

परन्तु इन गोम्पों के साथ एक कठिनाई और भी है और वह है कि ये किस तरह से अपने आप को बचाये रखे क्योंकि अब तो रक्षक भी भक्षक बन गये हैं। हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग द्वारा 26-11-1988 को आयोजित एक सेमिनार मे डॉ0 लक्ष्मण सिंह ठाकुर ने बताया कि स्पिति के ताबो के गोम्पों से बोधिसत्व की दो बहुमूल्य लकड़ी की मूर्तियां गुम पाई गई हैं। इन मूर्तियों को सन् 1909 में डॉ० ए0 एच0 फ्रेंक ने नोटिस किया था और उन्होंने इन मूर्तियों की तस्वीर को अपनी किताब (Antiquities of Indo -Tibet Volume I) के पृष्ठ संख्या 18 में प्रकाशित किया था। डॉ0 ठाकुर ने यह भी बताया कि स्वयं गोम्पे का लामा गोम्पे का दुर्पयोग कर रहा है। उन्होंने गोम्पे के एक कमरे को आलू और गन्दम के गोदाम के रूप में प्रयोग में लाते हुए पाया जिसके कारण दीवारों पर की गई चित्रकारी को काफी नुकसान हुआ है। "दुखङ·" अर्थात् गोम्पे के मुख्य हाल के प्रवेश-द्वार पर ही हाल ही में कुछ परिवर्तन किये गये हैं। उदाहरण स्वरूप एक पाखाना बनाया गया है जो सन् 996-997 में पवित्र "छोस्कर" को अपवित्र कर रहा है। पूर्व की ओर की सीमा की दीवार को गिरा कर उसके स्थान पर दो दुकानें बना दी गई हैं जिनका मालिक गोम्पे का ही एक लामा है । डॉ0 ठाकुर का यह भी कहना है कि इस गोम्पे को वैसे तो राष्ट्रीय महत्व का

एक गोम्पा घोषित किया गया है परन्तु इसको सुरक्षित रखने के लिए न के बराबर काम किया गया है।

इन इलाकों में रहने वाले बौद्ध धर्म के लोग मण्डी जिले के रिवालसर नामक स्थान की झील तथा इस झील के चलते-फिरते पोथो का दर्शन करना उतना ही पवित्र मानते हैं, जितना कि लुम्बिनी, सारनाथ तथा बौद-गया आदि तीर्थ स्थानों का दर्शन करना। सारनाथ आदि स्थानों पर पहुंच पाना हर एक आदमी के वश की बात नहीं, परन्तु नजदीकी के कारण हर कोई रिवालसर झील का दर्शन करने जरूर जाता है चाहे जिन्दगी मे एक बार ही सही। कहते हैं कि रिवालसर का नाम भगवान बुद्ध के पुत्र राहुल के नाम पर पड़ा है।

रिवालसर झील के बारे में एक बहुत ही रोचक लोक-कथा सुनने को मिलती है। कहते हैं कि रिवालसर में आचार्य पद्मसम्भव के धार्मिक प्रवचनों को सुन कर लोग बहुत प्रभावित होते थे। मण्डी के राजा की पुत्री ने जब आचार्य जी की विद्वता के बारे में सुना तो उसके मन में भी आचार्य जी से मिलने और उनके दर्शन करने की लालसा जाग उठी। एक बार आचार्य से मिलने के बाद अब राजकुमारी हर रोज आचार्य के धार्मिक प्रवचन सुनने के लिए जाने लगी और एक दिन ऐसा भी आया जबकि वह उनकी शिष्या बन कर उनके साथ रहने लगी। इससे लोग तरह-तरह की बातें बनाने लग पड़े। यहां तक कि कुछ लोगों ने राजकुमारी के चरित्र पर भी शक करना शुरू कर दिया । जब राजा ने यह बात सुनी तो उन्हें बहुत दुःख हुआ । उन्होंने राजकुमारी को आचार्य का साथ छोड़ने के लिए बहुत समझाया परन्तु सब व्यर्थ गया । राजकुमारी किसी भी कीमत पर आचार्य का साथ छोड़ने को तैयार नहीं हुई। अन्त में राजा ने इस समस्या के मुख्य कारण अर्थात् पद्मसम्भव को ही खत्म कर देने का फैसला कर लिया । अतः एक दिन उन्होंने अपने कुछ कर्मचारियों को बुला कर एक चिता तैयार करने का आदेश दे दिया। चिता के ऊपर खूब तेल डाल दिया गया ताकि वह अच्छी तरह से जल जाये । इसके बाद पद्मसम्भव को चिता पर बिठा कर उसमें आग लगा दी गई। राजकुमारी यह सब कुछ देख रही थी। अपने गुरू को चिता में जलते हुए देखकर उसका दिल भर आया और वह भी चिता में कूद पड़ी। कुदरत का खेल देखिये, चिता के जल कर राख हो जाने के बाद वहां "पदमागेसर" नाम का एक पेड़ निकल आया जिसके एक टहनी पर राजकुमारी तथा दूसरी टहनी पर आचार्य पद्मसम्भव बैठे मुस्करा रहे थे। चिता पर डाले गये उस तेल से वहां एक "छो" (झील) बन गई । रिवालसर के इस झील में चलती फिरती झाड़ियां इसी "पदमागेसर" वृक्ष के वशज मानी जाती है। यही कारण है कि इस "छो" और उसकी चलती-फिरती झाड़ियां देनों को ही धर्म के लिए लोग पूजनीय मानते हैं।

हिमाचल का हिन्दी उपन्यास —एक सर्वेक्षण

डा. सुशील कुमार 'फुल्ल'

हिमाचल प्रदेश हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त है परन्तु आश्चर्य है कि जब कभी राष्ट्रीय स्तर पर कोई हिन्दी सम्मेलन आयोजित होता है तो उस में विचार-गोष्ठियों में विभिन्न हिन्दी प्रान्तों एवं हिन्दी भाषी राज्यों की हिन्दी एवं हिन्दी साहित्य को देन को रेखांकित करते हुए विद्वान प्रायः हिमाचल का नाम तक नहीं लेते। इस के कई कारण हो सकते हैं परन्तु प्रमुख कारण यही है कि हिमाचली लेखकों ने सुनियोजित ढंग से अपनी रचनाओं पर कभी विचार-गोष्ठियां आयोजित नहीं करवाईं और न ही उन्होंने पुस्तक समीक्षा की आवश्यकता को कभी गम्भीरता से लिया है। हां, इस सन्दर्भ में जो भी प्रोत्साहन, प्रचार प्रसार का कार्य सम्पन्न हुआ है, उस का अधिकतर श्रेय हिमाचल कला-संस्कृति एवं भाषा अकादमी को है ।

ऐसा नहीं है कि हिमाचल में सर्जनात्मक साहित्य की रचना नहीं हुई । उपन्यास, कहानी एवं कविता के क्षेत्र में कतिपय महत्वपूर्ण कृतियों का सृजन हुआ है । कुछ नये नाम उभर कर सामने आ रहे हैं। हां, नाटक एवं निबन्ध के क्षेत्र में सृजन की मात्रा कुछ कम अवश्य रही है। गत दस वर्षों में तो प्रभूत मात्रा में रचनाएं प्रकाशित हुई हैं। लोक-साहित्य के प्रति भी विद्वानों का ध्यान गया है तथा अनेक शोध-पूर्ण कृतियां प्रकाशित हुई है। अकादमी की पुरस्कार योजना ने हिमाचल में व्याप्त सन्नाटे को तोड़ने का काम किया है तथा हर विधा की पुस्तकें धड़ाधड़ प्रकाशित होने लगी हैं थोक-खरीद योजना ने प्रदेश के बाहर के प्रकाशकों को भी आकर्षित किया है ।

उपन्यास आज की सर्वाधिक लोक-प्रिय विधा हैं। इस में विस्तृत पृष्ठभूमि के चित्रांकन की सम्भावना रहती है तथा काल-खण्ड या अचल विशेष के सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवेश को उजागर करने का पर्याप्त अवकाश रहता है। विषय-वस्तु की विविधता एवं औपन्यासिक कृतियों की संख्या की दृष्टि से हिमाचल का हिन्दी उपन्यास पर्याप्त समृद्ध है। उल्लेखनीय है कि हिमाचल का हिन्दी उपन्यास राष्ट्रीय धारा से जुड़ने में सक्षम है। हाँ, इस बात की आवश्यकता है कि इन उपन्यासों की चर्चा हो। प्रस्तुत लेख में हिमाचल

के प्रमुख उपन्यासकारों की कृतियों के सर्वेक्षण का प्रयास किया गया है ताकि हिमाचली उपन्यास की विशिष्टताओं को रेखांकित किया जा सके। कतिपय हिमाचली उपन्यासकारों के नाम इस प्रकार हैं:-

सन्त राम शर्मा, किशोरी लाल वैद्य, रमेश चन्द्र शर्मा, रामकृष्ण कौशल, मस्त राम कपूर, शांताकुमार, संतोष शैलजा, कृष्ण कुमार नूतन, सुदर्शन वशिष्ठ, हरदयाल नास्तिक, मनसाराम अरूण, गंगाराम राजी, ओंकार राही, संसारचन्द प्रभाकर, महाराज कृष्ण काव, दिनेश धर्मपाल, सुन्दर लोहिया, कैलाश भारद्वाज, विजय सहगल, पी.सी.के प्रेम, श्यामलाल गुप्ता, विजेन्द्र दुसाज, त्रिलोक मेहरा, अशोक सरीन, मनोहर सागर पालमपुरी, रमेश शर्मा अरूण, प्रदीप शर्मा, हंसराज शर्मा, सुशीलकुमार फुल्ल आदि । यहां महत्व पूर्ण उपन्यासों की चर्चा हमारा ध्येय है ।

उसी छत के नीचे

"उसी छत के नीचे" §प्रकाशन 1965§ विषयवस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से नयी जमीन तोड़ता है। इस उपन्यास में अनेक प्रश्नों को अनेक कोणों से उठाया गया है। उपन्यास साधारण पाठक को आकर्षित नहीं कर पाता क्योंकि इस में जीवन की विविध समस्याओं के संश्लिष्ट चित्रण का प्रयास है ।

"उसी छत के नीचे" का नायक सुधीर अवैध सन्तान है, जिसे निशा के मां-बाप ने लोक-लज्जा के कारण किसी दूसरे दम्पति को सौंप दिया था। किसी तीसरे व्यक्ति से सुधीर को अपने अवैध सन्तान होने का पता चलता है। एक दिन वह अपनी मां को किरायेदार के साथ केलि-क्रीड़ा करते देखता है, तो मां के प्रति उसकी आस्था वितृष्णा में बदल जाती है। सुधीर तिलमिला उठता है। वह बिजली की फिटिंग का काम सीख कर अपने आप को व्यस्त करना चाहता है। उसका विवाह हो जाता है। एक दिन उसकी पत्नी उसे ताना देती है कि ऐसे हरामी पति से तो वह रांड ही भली । यही स्थल है जो नायक को आत्महत्या की ओर प्रवृत्त करता है।

सुधीर रीता के घर बिजली फिटिंग के लिये जाता है। वह रीता को निर्वस्त्र देख कर आनन्दित होता है। मात्र कुछ घण्टे के अन्तर्गत आगे-पीछे की सारी घटनाएं नायक के मन से गुजरती है- फ्लैश बैक पद्धति से तथा नायक बिजली के करेन्ट से आत्महत्या कर लेता है ।

उपन्यास में कतिपय समानान्तर अन्तरकथाए भी गुम्फित है यथा सुधीर की मां निशा की कहानी एक कुआंरी मॉं की व्यथा-कथा है। निशा का दुखी वैवाहिक जीवन और असामयिक मृत्यु । निशा के साथ-साथ उसकी सहेली रीता की कहानी भी वस्तुतः मांसल देह-चित्रण की कथा है। रीता अपने नौकर पंचम से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित

करती है, गर्भवती होती है परन्तु विवाह हो जाने के कारण यह बात दबी रहती है। पंचम से उत्पन्न नरेन्द्र और लता की कहानी भी उपन्यास में है।

सुधीर के मन में आक्रोश है। वह स्वप्न में अपनी असली मां को भरे बाजार निर्वसन कर देता है तथा प्रतिशोध से संतुष्ट होता है। वह अपनी मां को ढूंढने का प्रयत्न करता है ताकि प्रतिशोध ले सके परन्तु माँ की अर्थी के पीछे चलता हुआ भी वह वास्तविकता को नहीं जान पाता । दिल्ली पहुंच कर वह वेश्या के सम्पर्क में आता है । नारी-शरीर में वह अपने विद्रोह का शमन पाता है ।

बीमारमन: स्थितियों का दस्तावेज

"उसी छते के नीचे" के सभी पात्र बीमार हैं। जीवन का उज्जवल पक्ष शायद उनके हिस्से में नहीं आता। तिल-तिल जलना एवं गलना उनकी नियति है। मांसलता उनपर बुरी तरह से हावी है। पात्रों का व्यवहार मनोवैज्ञानिक शमन तो करता है परन्तु कोई विराट जीवन दर्शन उभर कर सामने नहीं आता। हां, जब हम इन पात्रों को आर्थिक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, तो बीमार मनःस्थितियों का रहस्य खुलने लगता है। ये ऐसे पात्र हैं, जिन के पास मनोरंजन एवं जीवन की सार्थकता के लिये और कोई साधन नहीं है। अतः वे बार-बार शरीर से खेलते हैं, उसी के सम्मोहन में डूबते एवं उतरते हैं तथा छल-कपट से समझौता करते हैं ।

अपने शिमला स्थानान्तरण के लिये पति का अपनी पत्नी रीता को तश्तरी में रखकर अफसर को चखने के लिये प्रस्तुत करना इस उपन्यास की एक बहुत ही महत्वपूर्ण यथार्थपरक घटना है ।

अस्तु, प्रस्तुत उपन्यास में मानव की उच्छृंखल प्रवृतियों का यथार्थपरक चित्रण मिलता है। ऊपर से साफ सुथरा दिखायी देने वाला समाज अन्दर ही अन्दर कितना दूषित एवं घिनाना है, इसका निर्मम उद्घाटन उपन्यासकार ने किया है। नर एवं नारी-दोनों ही वर्गों के पात्र मोम की तरह पिघलते चले जाते हैं। सुधीर दयनीय नायक के रूप में उभरता है, अवैध बालक बेचारा सदा सदा के लिये अभिशापित, बहिष्कृत एवं निष्कासित।

प्रयोगधर्मा उपन्यासः-

सन्तराम शर्मा का यह दावा है कि "उसी छत के नीचे" हिन्दी जगत का पहला ऐसा उपन्यास है, जिसमें स्ट्रीम आफ कन्शसनेस एवं पूर्व दृश्य शैली का प्रयोग किया गया है ।

वृक्ष कट...कट....कट करता रहता है और उधर सुधीर के मन में सारी परिस्थितियां उथल-पुथल मचाती रहती है, एक आकार लेती हैं तथा अन्त में नायक को आत्महत्या पर विवश करती है ।

"उसी छत के नीचे" में औपन्यासिक सम्भावनाएं साकार हुई हैं परन्तु आश्चर्य है कि सन्तराम शर्मा का कोई और उपन्यास प्रकाश में नहीं आया है ।

तट के बन्धन

सन्तराम शर्मा का मौन तथा गाम्भीर्य पूर्ण व्यक्तित्व किसी को भी सहज ही आकर्षित करता है, तो उसी प्रकार हिमाचल के एक अन्य लेखन कर्मी श्री किशोरीलाल वैद्य का अन्तर्मुखी व्यक्तित्व तथा सार्थक-सोद्देश्य कृतित्व अपनी अलग पहचान के कारण एकाएक मुखरित हो उठता है। सन्तराम शर्मा तथा वैद्य की औपन्यासिक अवधारणाएं अलग अलग है। वैद्य {जन्म 29·3·1936} का एकमात्र उपन्यास "तट के बन्धन" {1963} कथ्य एव प्रस्तुति की दृष्टि से "उसी छत के नीचे" से एकदम अलग प्रकार की कृति है। "उसी छत के नीचे" रोमांसपरक रचना है, जब कि "तट के बन्धन" में आदर्शवादी सामाजिक चेतना के दर्शन होते हैं।

रचना प्रक्रिया तथा प्रेरणा के सन्दर्भ में किशोरी लाल वैद्य के विचार ध्यातव्य हैं-- हर कलाकार की तरह मैं भी अपनी अनुभूति को एक निश्चित माध्यम {लेखन} द्वारा अभिव्यक्ति देने की एक स्वाभाविक ललक महसूस करता हूं। अनुभूति सम्बन्धी गहराई, चिन्तन सम्बन्धी ईमानदारी, अभिव्यक्ति सम्बन्धी सक्षमता अथवा दक्षता तथा शैली सम्बन्धी सौष्ठव से ही किसी रचना को एक कलात्मक स्तर प्राप्त हो सकता है। इस समस्त प्रक्रिया में लेखक अथवा कलाकार एक बेचैनी महसूस करता है और अन्ततः सृजन का एक विशिष्ट सन्तोष भी। रचना के प्रकाशन पर लेखक को अपने पाठकों, समीक्षकों तथा लेखक साथियों की अलग-अलग कचहरी में खड़ा होना पड़ता है। जहां उसके लिये फूल हैं तो पत्थर भी। ऐसी स्थिति में उसका अपना विवेक ही उसका एकमात्र सहारा है तथा मार्ग दर्शक भी। अधिकांश आशंसा-प्रशंसा तथा आलोचना-प्रत्यालोचना तो एक अकादमिक उठा-पटक मात्र है, जिससे एक सृजनशील कलाकार के लिये यदि उस के रचनाधर्म में सहयोग नहीं मिलता, तो वह निरर्थक है।

"तट के बन्धन" का नायक कार्तिकेय महत्वाकांक्षी युवक है। अपने परिवेश की मिट्टी से जुड़ा हुआ हो कर भी वह अपनी अलग पहचान का अहसास करवाता है । नायक एम० ए०,बी0 एड0 करने के बाद एक स्कूल में अध्यापक लगा है परन्तु स्कूलों में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा प्रशंसकों के दूषित व्यवहार के प्रति उसके मन में विद्रोह है, वितृष्णा है तथा वह साहसपूर्वक उन दूषित रूढियों से अपने आप को अलग रखता है। उपन्यास के आरम्भिक चरण में [illegible]यालय-प्रशासन के भुरभुरेपन पर तीखा प्रहार है।

व्यंग्य की धार को ले[illegible]र चला उपन्यास धीरे-धीरे नायक-नायिका के परस्पर

आकर्षण, दोनों की सीमा-रेखाएं तथा कार्तिकेय की बहन तारी के बीच सिमट कर रह जाता है। छुट्टियों में अनीता मण्डी शहर में कार्तिकेय के घर मेहमान के रूप में रहती है-- अपने पी0एच0डी0 के शोध-प्रबन्ध को पूरा करने में लगी है और उधर नायक कार्तिकेय उपन्यास लेखन में रत है। उसमें अन्ना उसकी प्रेरणा बनती है। दोनों में तालमेल रखवाने में तारी सहायक है।

कार्तिकेय का पिता विवाह के लिये जोर देता है तथा अन्ततः कार्तिकेय को अल्टीमेटम दे दिया जाता है। उपन्यास की सहज-स्वाभाविक धाराक्रम के अनुसार कार्तिकेय तथा अन्ना का विवाह हो जाना चाहिए था परन्तु जीवन सदा वैसा तो नहीं होता जैसा हमें प्रत्याशित होता है और फिर नायक कार्तिकेय आदर्शवादी, दार्शनिक भावना से सम्पृक्त युवक है, अतः 'तट के बन्धनों' को स्वीकारता हुआ वह विजातीय कन्या सलमा से विवाह कर लेता है। अन्ना के लिये यह स्वाभाविक रूप से एक धक्का है। वह अपने भावों को छिपाने का प्रयास करती है परन्तु अन्तर्-व्यथा छलक-ही उठती है। "एक मांग है तुम से उम्मीद है ठुकराओगे नहीं। सलमा को शुचिता मान कर आगे बढो। ऐसा कर सको तो इसे मैं अपने जीवन की एक विशेष उपलब्धि मानूंगी। मेरे ऊपर अहसान करोगे तुम। तुम्हें इस में विरोध नजर आता होगा। ऐसा कुछ नहीं है, यकीकन कह रही हूं.... आवश्यक एवं उचित समझो तो पत्र-व्यवहार बनाए रखो । आखिर तुम ने जीवन को जी कर दिखला दिया ।" उपन्यास के 132 पृष्ठों में कार्तिकेय की कल्पनाओं, महत्वकांक्षाओं का सजीव चित्रण है । इन पृष्ठों पर तारी एवं अन्ना भी छायी हुई हैं। पृष्ठ 132 से 137 के बीच अचानक सलमा छा जाती है और उपन्यासकार की जल्दबाजी स्पष्ट हो उठती है। हालांकि इस में सन्देह नहीं कि अन्तिम 5 पृष्ठों में उपन्यासकार ने सलमा एवं कार्तिकेय के निश्छल प्रेम को लोक-गीतों की टुकड़ियों के माध्यम से कुशल ढंग से चित्रित किया है । फिर भी विवाह और सलमा का रूष्ट श्वसुर के पास पहुंचना और तारी आदि का उसे स्वीकार कर लेना संभव भले ही लगता हो परन्तु आश्चर्यजनक जरूर है। विवाह के बाद भी नायक के मन में नायिका के प्रति आकर्षण बना रहता है।

आरम्भ से अन्त तक नायक शुचिता नाम के आदर्श पात्र की परिकल्पना से ग्रस्त है और वस्तुतः उसी का विस्तार पूरे उपन्यास में एक प्रभावशाली कथानक के रूप में उभर कर सामने आता है। बहुत सी बातें अस्पष्ट हो कर भी स्पष्ट हैं। दार्शनिकता का कोहरा कृति को अतिरिक्त आयाम देता है।

"तट के बन्धन" किशोरीलाल वैद्य का सशक्त उपन्यास है परन्तु आश्चर्य है कि बीस साल के अन्तराल में कोई दूसरा उपन्यास प्रकाशित नहीं हुआ। एक अधूरा उपन्यास वर्षों से पूर्णता की प्रतीक्षा में है, देखें कब पाठकों तक पहुंचता है। "तट के बन्धन" उपन्यास ही सन् 1987 में पुनः "नदी नाव संयोग" शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

स्वभाव से मृदु भाषी मन्द मन्द मुस्कान तथा गम्भीर चिन्तन से सहज ही प्रभावित करने वाले रमेशचन्द्र शर्मा {जन्म 21 मार्च 1929} का एकमात्र उपन्यास "बर्फ की राख" है। जिसे हिमाचल अकादमी ने सन् 1983 में प्रथम पुरस्कार से अलंकृत किया है। प्रस्तुत उपन्यास की रचना में लेखक को दस वर्ष का समय लगा ।

श्री मौलू राम ठाकुर के अनुसार "हिमाचल के वातावरण में लिखा सम्भवतः यह पहला उपन्यास है, जिसमें यहां के इतिहास और संस्कृति का अनूठा चित्रण प्रदर्शित हुआ है। उपन्यास का मूल उद्देश्य ऐतिहासिक है। इतिहास का विषय हर किसी को रुचिकर नहीं होता परन्तु लेखक ने ऐतिहासिक तथ्यों को अनुपम औपन्यासिक शैली देकर अपने उद्देश्य की सफल पूर्ति की है।"

अभिप्रायः यह है कि श्री ठाकुर ने स्वीकार किया है कि पठनीयता एवं रोचकता की दृष्टि से यह उपन्यास सभी पाठकों को नहीं बांध पाता ।

प्रमुख कथा प्रो0 सुनीत तथा कल्याणी की है। प्रारम्भ में दोनों दो समानान्तर धाराओं के रूप में बहते हैं, दोनों मैत्री के स्तर पर जीते हैं। दोनों पर्वतारोहण के लिये कुल्लू-मनाली जाते हैं। उनकी छात्रा नारायणी भी उनके साथ है। कल्याणी के पांव में मोच आ जाती है। नारायणी पर्वतारोहण के लिये चली जाती है। डा0 प्रभात के साथ उस का विवाह हो जाता है लेकिन कल्याणी उपचार के लिये अस्पताल में रुक जाती है। प्रो0 सुनीत भी पीछे ठहर जाता है। अनेक पड़ावों से होती हुई कथा, अनेक स्थानों के दृश्य-विस्तार का चित्रण करती हुई उपन्यास के पृष्ठ 140 तक पहुंच कर सुनीत और कल्याणी को पृष्ठभूमि में छोड़ देती है। उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों में वे फिर प्रकट होते हैं। दोनों में परस्पर आकर्षण तो बहुत पहले से था ही परन्तु दोनों इसे स्पष्ट स्वर नहीं देते थे। अन्त तक पहुंचते पहुंचते परिस्थितियां ऐसी हो जाती हैं कि दोनों विवाह बंधन में बंधना स्वीकार कर लेते हैं। इस सूत्र में बंधने का तात्कालिक कारण एक बच्चे को बनाया गया है । कल्याणी का पिता कैप्टन नगेश पिता के रूप में बहुत प्रभावित नहीं करता है।

चैना राम और खेमती का प्रसंग भी रोचक है। चैनाराम गलत आदमियों के गिरोह में फंस जाता है। औरतों के प्रति उस का व्यवहार बहुत प्रशंसनीय नहीं है परन्तु जम्मू-कश्मीर में उसे पुलिस के जाल में फंसा कर फिर खेमती को उसकी पैरवी के लिये उपन्यासकार उसे वहां भेज देता है। सभवतः दोनों विवाह बन्धन में बंध जांएगे। चैनाराम को प्रायश्चित का अवसर जुटाना लेखक को अभिप्रेत है।

एक कथानक अम्बदा और भागचन्द का भी है। कुल्लू का बागवान भागचन्द कल्याणी के प्रति भी आकर्षित है परन्तु अन्त में अम्बदा के साथ उस का विवाह हो

जाता है ।

विदेशी लोगों की धोखाधड़ी को साकार करती कैरोलीन अन्त में आत्महत्या कर लेती है। वह पुलिस के हाथों से बच निकलती है। कैरोलीन भी प्रो0 सुनीत के सम्पर्क में आती है। अपनी व्यथा में सुनीत उसके प्रति समर्पित होता है और उसे अपने बाथरूम में बन्द रखता है। वह आत्मस्वीकृति करता है तथा कैरोलीन को पकड़वाता है लेकिन वह पहले ही आत्महत्या कर लेती है ।

उपन्यास में दिकतमा का प्रसंग भी मूल घटनाओं को गति प्रदान करता है। स्मगलरों का भण्डाफोड़, पात्रों का सुधार को अवसर देना और कितने ही विवाह इस उपन्यास की परिणति हैं ।

खूंटे पर टंगे पात्र

"बर्फ की राख" के पात्र स्वतन्त्र विचरण नहीं करते। वे लेखक की इच्छानुसार कवायद करते हैं। जहां जैसा लेखक ने चाहा है, उन्हें नचाया है । वास्तव में सभी पात्र ऐसे लगते हैं मानों उन्हें पहले से ही खूंटी पर टांग कर रखा गया हो। जब जिस पात्र की जरूरत पड़ती है, उसे लेखक तुरन्त उतार कर उसमें चाबी भर देता है । जब तक चाबी रहती है, पात्र चलता रहता है। फिर वह चुपके से जा कर खूंटी पर टंग जाता है । पात्र भाषण करने लगते हैं। वह स्थान विशेष या घटना विशेष को उजागर करने लगते हैं। स्थान, इतिहास, घटनाओं आदि का प्रामाणिक विवरण जहां उपन्यास के सांस्कृतिक आयाम एवं विस्तार को रेखांकित करता है,वहीं उनका अनावश्यक विस्तार कथानक की गरिमा को खंडित भी करता है। पात्रों पर घटनाएं हावी हो जाती हैं और पात्र बौने हो जाते हैं ।

सांस्कृतिक परिवेश

"बर्फ की राख" अपनी सीमाओं के बावजूद सांस्कृतिक परिवेश के उद्बोधन का सफल उपन्यास है। इस में हिमाचल एवं भारत की गौरव गाथा ठूंस-ठूंस कर भरी पड़ी है। हिमाचली भूगोल एवं इतिहास का रोचक चित्रांकन उपन्यासकार की उपलब्धि है।

आंचलिकता की दृष्टि से भी उपन्यासकार का योगदान महत्वपूर्ण है। कर्नल नगेश में मातृभाषा के प्रति लगाव भाषा-प्रयोग द्वारा प्रगट होता है-- "तिनी कंवारी रहणे दा निरचा कीता।" और भी बहुत से रोचक वार्तालाप, लोक-गीतों के अंश प्रस्तुत उपन्यास में पहाड़ी भाषा का विविध रंग-रूप लिये हैं।

"बर्फ की राख" के विषय में उपन्यासकार की टिप्पणी सटीक है "अलग -अलग अस्तित्व वाले 21 अध्याय समस्त उपन्यास के सह-अस्तित्व में भी लीन हैं।" उपन्यास कहानियों का सग्रंह नहीं होता, फिर भी श्री मौलू राम ठाकुर के शब्दों में कुछ सच्चाई जरूर है। "निस्सन्देह उपन्यास का हर अध्याय अपने आप में एक पूर्ण कहानी है। सारे

उपन्यास को पढ़े बिना किसी एक अध्याय के अध्ययन पर भी पाठक एक पूर्ण सफल कहानी का आनन्द लेता है। सभी कहानियां हमारे इर्द-गिर्द की जिन्दगी समेटे हुए है।"

रमेश चन्द्र शर्मा का एक अन्य उपन्यास अभी अधूरा है, जिसमें नर-नारी के आकर्षण को आधार बनाया गया है।

सैलानी

रामकृष्ण कौशल हिमाचल के अग्रणी उपन्यासकारों में से हैं। अब तक इन के पांच उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। "बर्फ की राख" की भांति इन के एक उपन्यास "चढ़ती पगडंडिया अनथके पांव"§1965§ में आंचलिकता के दर्शन होते हैं। "चढ़ती पगडंडिया का पूवार्ध बहुत ही रोचक है परन्तु उतरार्ध में किन्नौर-दर्शन का व्यामोह उपन्यास के शिल्प को खण्डित करता है। "कल्पना" उपन्यास में दर्शन-विशेष के प्रतिपादन का आग्रह स्पष्ट महसूस होता है परन्तु " ये सपने ये रातें" में युवक-युवतियों के भावावेश पूर्ण विचारों, आकांक्षाओं एवं अनुभूतियों का सुन्दर चित्रण हुआ है। कौशल का एक अन्य उपन्यास "पथ के राही" मनोविश्लेषणात्मक धरातल पर मन की गहराइयों को छू जाता है।

"सैलानी" §1978§ कौशल का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है, जिसमें आधुनिक जन-जीवन की विसंगतियों को यथार्थ के धरातल पर चित्रित किया गया है। इस उपन्यास से रामकृष्ण कौशल की अलग पहचान बनती है तथा राष्ट्रीय स्तर के किसी भी समकालीन उपन्यास से यह पीछे नहीं रहता। "सैलानी" अजित नाम के किरानी की व्यथा-कथा तो है ही, साथ ही परिवेशगत दुर्बलताओं से सम्पन्न, सेक्स से आक्रान्त व्यक्ति की कहानी है।

आरम्भ से अन्त तक अजित के मन-मस्तिष्क पर निशा का मांसल सौंदर्य छाया हुआ हैं। नायक मन ही मन उस पर आसक्त है परन्तु कुछ कह नहीं पाता। अपनी ही ईर्ष्याओं में फंसा नायक अभिव्यक्ति का संकट महसूस करता है। निशा के पति राकेश के आगमन पर उसकी प्रतिक्रिया बहुत तीखी परन्तु मार्मिक है। उपन्यास की प्रथम पंक्ति में इंजिनियर पति तथा अलसेशियन कुत्ते के साथ निशा के आगमन का संकेत सहज ही बिम्बात्मक हो कर पाठक के मन में "अलसेशियन पति तथा इंजिनियर कुत्ते" के रूप में उभरता है। अजित के सेक्स की पराकाष्ठा निशा के स्थान पर अचानक सद्य-स्नाता हेमा से संभोग पर होती है । अजित हेमा में ही निशा को ढूंढ लेता है।

ग्रंथियों का भ्रमजाल

उपन्यास ग्रंथियों के भ्रमजाल में फंसे एवं वैवाहिक जीवन के असन्तोष से त्रस्त-पस्त एक सामान्य व्यक्ति परन्तु असाधारण अन्तर्मुखी लेखक की कहानी है। वार्तालाप का चटपटापन, भाषा का लचकीलापन कौशल की रचना के अन्य गुण हैं।

सन्तराम शर्मा के उपन्यास का नायक सुधीर भी ग्रंथियों के भ्रमजाल में फंसा हुआ है परन्तु उसका भ्रमजाल परिवेश जन्य है, जबकि रामकृष्ण कौशल का नायक अजित संभवतः दमित वासना के कारण निशा को ललचाई आंखों से देखता है तथा अन्त में पर-स्त्री हेमा से संभोग रत होता है। शैली की दृष्टि से भी कौशल का उपन्यास अलग प्रकार का है। "तट के बन्धन" का नायक सामाजिक सीमाओं को स्वीकारता है, जबकि "सैलानी" का अजित उन्हें नकारने पर तुला है। "बर्फ की राख" के प्रेम-प्रसंग "सैलानी" के प्रेम-प्रसंग से अलग धरातल पर चित्रित है । इन उपन्यासों में चित्रित प्रेम की विविधता इन कृतियों का प्रमुख आकर्षण है।

तीसरी आंख का दर्द

मस्तराम कपूर (जन्म 22 दिसम्बर, 1926) ने तीन उपन्यासों का सृजन किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं-- "विपथगामी", "एक अटूट सिलसिला" तथा "तीसरी आंख का दर्द"। कपूर के उपन्यास समस्यापरक है। "विपथगामी" यदुनाथ, सुरेन्द्र, सुधा, लिली, लता तथा सुन्दर आदि पात्रों के यथार्थ जीवन की कहानी है, जिसमें इस बदसूरत दुनिया को एक स्वस्थ, सुन्दर दुनियां में बदलने का चित्रण आस्था रूप में किया गया है । "एक अटूट सिलसिला" समस्यापरक उपन्यास है। इस में कांगड़ा घाटी के जीवन दर्शन, जमींदारों तथा काश्तकारों के पुश्तैनी चले आ रहे लम्बे संघर्ष की कहानी है। युवा कर्मशील युवक राजनीति की दलदल में फंसे अधिकारी वर्ग की कुदृष्टि का शिकार हो जाने की वजह से नगर-जीवन के मूल्यों को अपने वर्ग तक पहुंचाने में पूर्णतः समर्थ नहीं हो पाते ।

"तीसरी आंख का दर्द" (1979) की भूमिका में लेखक का कथन ध्यातव्य है" हिमालय के तीन गांव की पृष्ठभूमि में स्वातन्त्रयोत्तर भारत के ग्राम्य जीवन की धड़कन को पहचानने का प्रयास मैंने "एक अटूट सिलसिला" (1977) में किया था। गुणीजनों ने उस प्रयास को सराहा और अनेक मित्रों ने सुझाव दिया कि उस अध्ययन को अद्यतन बनाया जाए। अनेक चरित्र जिन्हें समय सीमा के कारण मंझधार में छोड़ना पड़ा था, अपनी अपनी संघर्ष कथा को कहने के लिये व्यग्र थे। संयोग से वे जिन परिस्थितियों में से गुजरे वे अपने आयामों में राष्ट्र व्यापी थी इस लिये प्रस्तुत उपन्यास में उन चरित्रों का संघर्ष ही नहीं, सारे राष्ट्र का संघर्ष भी व्यक्त हुआ है।"

आपात स्थिति की पृष्ठभूमि

"तीसरी आंख का दर्द" जिस आक्रोशमयी मुद्रा के साथ खुलता है, उसका निरन्तर निर्वाह उपन्यास में नहीं हो पाया है। वस्तुतः आक्रोश एवं विद्रोह की भाव-भंगिमा क्रमशः क्षीण होती गयी है तथा उसके स्थान पर भारतीय समाज की रूग्ण मानसिकता, पुरातन-

पंथी परम्पराएं, नवीन के प्रति मोह, आदर्श के प्रति झुकान आदि घटनाएं तथा स्थितियां एकाएक उभरने लगती है। यदि यह कहा जाए कि उपन्यास ग्रामीण जीवन के उत्थान पतन, आकांक्षाओं तथा असफलताओं, सवर्ण एवं असवर्ण जातियों के सघंर्ष का दस्तावेज है, तो अधिक उपयुक्त होगा ।

भारत-वर्ष के पौरूष को ग्रस लेने वाली एमरजैंसी की पृष्ठभूमि पर रचित यह उपन्यास भले ही मुरली के माध्यम से विद्रोह को अभिव्यक्त करता है परन्तु इसे राजनीति पर आधारित उपन्यास मानना बहुत बड़ा अन्याय होगा। छद्म वेश में रह कर भी मुरली कुछ विशेष नहीं कर पाता। बल्कि रोग-ग्रस्त रूपा के प्रति उसका आकर्षण किसी सीमा तक उसे बांधे रखता है। वह रूपा के टी· बी· उपचार के लिये टांडा सेनेटोरियम के निकट ही उसके साथ रहता है। इसे दिवाकर की पत्नी के प्रति उसका दैहिक मोह ही कहा जाएगा भले ही उपन्यास के अन्त में रूपा का पति दिवाकर अपनी दूसरी पत्नी को छोड़ कर फिर आ उपस्थित होता है। दिवाकर की वापसी आरोपित जान पड़ती है। भाई के अपमान का बदला, राजनीतिक स्तर पर एमरजेंसी का विरोध, मुरली का सन्यासी बन लोगों को प्रेरित करना उसके पौरूष, स्वाभिमान तथा दृढ़ संकल्प को व्यक्त करते हैं।

एमरजेंसी के कुशासन पर अनेक स्थालों पर किया गया व्यंग्य तब और भी गहरा हो जाता है, जब जनता सरकार बनने पर उधर के लोग इधर आने में जरा भी संकोच नहीं करते । ऐसे सूरजमूखी लोग ही वास्तव में किसी भी शासन के पतन के लिये उत्तरदाई होते हैं। "जो लोग कुछ दिन पहले युवा कांग्रेस के नसबन्दी कैम्पों और रैलियों में भेड़-बकरियों की तरह आदमियों को पकड़ कर ला रहे थे, वे भी अपने को जनता पार्टी के समर्थक सिद्ध करने के लिये व्याकुल हो रहे थे । हर व्यक्ति जेल से छूटने वाले मीसा बंदियो के साथ रिश्ते स्थापित करने, उनके स्वागत में समारोह आयोजित करने और जनता पार्टी के नेताओं के चित्र अपने घरों में लटकाने के लिये बेचैन दिखायी दे रहा था।" §पृष्ठ 225-26§

"तीसरी आंख का दर्द" एमरजेंसी के दर्द को तो मात्र आंशिक रूप से छूता है परन्तु ग्रामीण जीवन के दर्द का मार्मिक, स्नेहिल तथा यथार्थपरक चित्रण प्रस्तुत करता है। गांव का हर पात्र उपन्यासकार की कल्पना पर छा जाता है तथा थोड़ी सी झलक दिखाकर भी पाठक के मन पर अमिट प्रभाव छोड़ जाता है। बुद्धि सिंह, पंड़ित दयाराम भिक्खू, बावरी, लच्छो, रूपा, नीलू आदि सब पात्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप छोड़ते है। जनक एक शिष्य के रूप में सम्मोहित करता है परन्तु उसकी असामयिक मृत्यु दिखाकर लेखक ने ऐसे पात्र को निकाल दिया जिस की उपन्यास में पर्याप्त संभावनाएं थी ।

मस्तराम कपूर का उपन्यास ग्रामीण मानसिकता का सजीव चित्रण प्रस्तुत करता है । लेखक के पास एक विशिष्ट दृष्टिकोण है तथा अपने प्रेष्य में उसे परी सफलता मिली

है। लेखक का सुधारवादी दृष्टिकोण उसके आस्थावादी स्वर का परिचायक है।

शान्ता कुमार के उपन्यास

शान्ता कुमार {जन्म 1934} आपात स्थिति के समय नाहन जेल में बन्द थे। वैसे तो कुछेक पुस्तकें शान्ता कुमार ने पहले भी लिखीं एवं प्रकाशित करवाई थीं परन्तु उन्नीस मास के कारावास ने उनके कथाकार को जन्म दिया। एक विशेष तड़प की अनुभूति के अधीन लिखे गये उपन्यास एक अतिरिक्त आयाम ग्रहण करते हैं। "मन के मीत"{1978} "कैदी" {1978} तथा लाजो"{1979} ये तीन उपन्यास शान्ता कुमार के प्रकाशित हुए

मन के मीत

"मन के मीत" जेल जीवन का चित्रण प्रस्तुत करता हुआ इस अभिशापपूर्ण भयावह स्थिति को उद्घाटित करता है कि नन्हें दुधमुंहों को भी अपनी मां के साथ जेल-यात्री बनना पड़ता है। उपन्यास गीता, उसके पुत्रों राजू तथा शामू की व्यथा-कथा है। साथ ही जेल-जीवन की अन्तरंग झांकी भी इस उपन्यास में मिलती है। उपन्यास समस्यापरक है तथा कतिपय मौलिक प्रश्न उठाता है परन्तु जहां तक शिल्प संगठन एवं घटनाओं के क्रमिक विकास एवं विस्तार की बात है, यह कहना होगा कि प्रस्तुत उपन्यास में वस्तुतः दो उपन्यास हैं, दो अलग अलग कथानक अर्थात् गीता का जीवन तथा उसके पुत्रों का जीवन । पहला उपन्यास पृष्ठ 95 पर समाप्त हो जाता है। वहां से दूसरा उपन्यास शुरू हो सकता था । "मन के मीत" भावना प्रधान मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है।

कैदी

"कैदी"{1978} शान्ता कुमार का दूसरा समस्यापरक उपन्यास है। नायक राजीव अपनी पत्नी के बहकावे में आकर गबन कर बैठता है तथा जेल में सड़ता है। हां, जेल में सुधार के लिये वह अपनी आवाज बुलंद करता है। अन्य कैदियों एवं जेल-अधिकारियों में वह पर्याप्त प्रिय हो जाता है लेकिन उस की पत्नी रेखा का धीरे धीरे नीरज के प्रति आकर्षित होना तथा शारीरिक समर्पण नारी विशेष के प्रति पाठक के मन में वितृष्णा की भावना जागृत करता है। नीरज एवं रेखा के संभोग का अप्रत्यक्ष चित्रण उपन्यासकार ने इस प्रकार किया है :- "रेखा क्या करूं तुम आज बहुत ही सुन्दर लग रही हो । इतनी सुन्दर तुम मुझे पहले कभी नहीं लगी थी।" कहते कहते नीरज ने उसके कन्धे पर हाथ रखा । रेखा कुछ संभली, पर फिर संभल न सकी । वह नीरज की ओर मुड़ी, तभी नीरज ने उसकी कमर पर हाथ रखे और फिर क्या हुआ, किसी को कुछ पता नहीं लगा । {पृष्ठ 12}

राजीव की अनुपस्थिति में रेखा के विचारों में परिवर्तन होता है। महत्वाकांक्षा के साथ साथ वह शारीरिक भूख से भी पीड़ित है। रेखा ने कुछ प्रगतिशील महिलाओं

के लेख पढ़े थे और भाषण भी सुने थे। उसने अपने मन को समझा लिया था कि आखिर नारी पर किसी एक ही व्यक्ति का एकाधिकार भी क्यों हो। उसने अपने मन से सवाल किया था कि क्या नारी किसी दुकान की विक्रय करने योग्य वस्तु है कि जिस ने एक बार खरीद लिया, उसी की क्रीतदास हो गयी..... यदि द्रोपदी के पांच पति हो सकते है तो तेरा एक पति और एक मित्र क्यों नहीं हो सकता । पुराने रूढ़िवादी विचारों में रखा ही क्या है । §पृष्ठ 116§

रेखा फिल्म में नायिका बनने के लिये मेहरा के सामने भी शारीरिक समर्पण कर देती है। मेहरा भी लम्पट है। मेहरा का कथन देखें "रेखा जी आपने प्रथम मिलन में ही अपने व्यक्तित्व की मुझ पर छाप डाल दी है। सोचता हूं इतनी बड़ी प्रतिभा आज तक क्यों छिपी रही .... मैं इतना प्रभावित हुआ हूं कि सचमुच चाहने लग पड़ा हूं।" धीरे से निकट सरकते हुए मेहरा ने कहा। §पृ0 13§

नीरज ने रेखा का पैसा हड़प लिया । विनोद के माध्यम से जब उसकी जाल-साजी का पता चलता है, तो वह संतुलन खो बैठती है और पागल हो जाती है। नीरज जेल भेज दिया जाता है।

उपन्यास कैदियों के संसार से परिचित करवाता है। साथ ही जेलों की दूषित स्थिति का पर्दाफाश करता है। राजीव आदर्श का प्रतिपालन करना चाहता है परन्तु रेखा की बेवफाई उसे पागल बना देती है। राजीव की आस्था एवं विश्वास खण्डित होते हैं। उपन्यास पर अनावश्यक रूप से रेखा का दुश्चरित्र हावी हो जाता है। अन्त में उसका पागल होना भी पाठक के मन में सहानुभूति नहीं जगाता ।

लाजो

"लाजो" §1979§ शान्ताकुमार का आंचलिक उपन्यास है जिसमें भाषागत आंच-लिकता के साथ साथ परिवेश विशेष के चित्रण की आंचलिकता भी मिलती है। उपन्यास युद्ध-विधवाओं के पुनर्वास एवं पुनर्विवाह की समस्या पर आधृत है।

लाजो के विवाह को अभी तीन ही दिन हुए थे कि उसके पति प्यारचन्द को विदेशी आक्रमण के कारण सीमा पर लौट जाना पड़ता है, जहां वह हाजीपीर की चोटी को अपने कब्जे में कर लेता है तथा वीरगति को प्राप्त होता है। लाजो विधवा हो गई। उसका ससुर सुमेर चन्द अस्सी वर्ष का वृद्ध पुत्र की मृत्यु से तो दुखी हुआ ही परन्तु लाजो के वीरान जीवन से और भी घबरा गया । उपन्यास की परिणति से पहले ही सुमेरचन्द का देहावसान हो जाता है।

युद्ध विधवाओं को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इस का सशक्त चित्रण उपन्यास में है। सरकार उन के लिये बहुत कुछ करना चाहती है परन्तु पालमपुर

का अधिकारी भगतराम लाजो सी मासूम विधवा से बलात्कार का प्रयत्न करता है। लाजो फुंफकार उठती है। भगतराम गिरफ्तार हो जाता है। भगतराम हर प्रकार का हथकंडा अपनाता है तथा भूठे डाक्टरी प्रमाणपत्र के आधार पर तथा रिश्वत की सहायता से छूट जाता है । जालन्धर का वरिष्ठ अधिकारी भी एक घृणित पात्र के रूप में उभरता है, जिसे भगत राम लड़कियां सप्लाई किया करता था। भगतराम की काली ऐनक वास्तव में उसकी काली करतूतों की प्रतीक है।

गांव का एक लड़का प्रेम लाजो से विवाह रचाने का प्रण करता है। प्रेम भगत राम की हत्या कर देता है। उसे फांसी की सजा होती है। राष्ट्रपति दया की अपील स्वीकार कर उसे जीवन-दान देता है। प्रेम और लाजो का विवाह हो जाता है।

विधवा विवाह की समस्या के अतिरिक्त गांव में पानी की भीषण समस्या का चित्रण भी इस उपन्यास की उपलब्धि है। आंचलिकता की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास को अतिरिक्त आयाम मिलता है। शान्ता कुमार के उपन्यासों में कहीं कहीं नाटकीय तत्व तो मिलता है परन्तु सोद्देश्यता के कारण यह कमजोरी उपेक्षणीय बन जाती है।

महिला उपन्यासकार-सन्तोष शैलजा

शान्ता कुमार के उपन्यासों में राष्ट्रीय एवं सामाजिक भावना का मनोहारी चित्रण मिलता है। लेखक ने स्वयं कैद की दुनिया देखी थी, इसलिये जेलों की दुर्दशा का चित्रण भी जोरदार है। युद्ध-विधवाओं की समस्या का रेखांकन "लाजो" में हुआ है। शान्ताकुमार जी की धर्म-पत्नी श्रीमति सन्तोष शैलजा्ि जन्म 1937्ि हिमाचल की एकमात्र ऐसी महिला कथाकार हैं, जिनका उपन्यास "अंगारो में फूल"्ि1978्ि एक मात्र औपन्यासिक कृति है। प्रस्तुत उपन्यास में स्वतन्त्रता-संग्राम की रोचक एवं रोमांचक कहानी गुम्फित है।

अंगारों में फूल

सन्तोष शैलजा का उपन्यास महाराष्ट्र के चापेकर बन्धुओं के शौर्य एवं बलिदान की गाथा है। स्वतन्त्रता-संग्राम के लिये अनेक भारतीय वीरों ने अपने प्राणों की आहुति दे दी। पूना के चापेकर बन्धु,तीन सगे भाई दामोदर, वासुदेव एवं बालकृष्ण के अंग्रेज़ों के विरूद्ध संघर्ष,प्रतिकार तथा अन्त में फांसी को चूम लेने की कहानी है। सन् 1897 में पूना में मि0 रैड प्लेग-अधिकारी नियुक्त हो कर आया तो लोगों पर अत्याचार बढ़ गए । सैनिक जहां भी देखते, जिस घर को भी देखते वहीं ताड़ना-प्रताड़ना करते। आम भारतीय का जीवन असुरक्षित हो गया था।

युवकों ने "हिन्दू संरक्षिणी सभा" तथा "चापेकर क्लब " दो संस्थाएं बना ली थीं। इन युवको को बाल गंगाधर तिलक का संरक्षण प्राप्त था । दामोदर ने योजनाबद्ध

ढ़ंग से रानाडे आदि साथियों के सहयोग से मि0 रैड की हत्या कर दी। फिर मि0 लेम-हार्ट की हत्या की गयी। बड़े साहस एवं शौर्य पूर्ण ढंग से आततायियों को परलोक भेजा गया परन्तु गद्दार लोगों ने दामोदर को पकड़वा दिया और फिर बालकृष्ण को भी। दोनों भाईयों को फांसी हुई । फिर उनके सब से छोटे भाई वासुदेव ने द्रविड़ भाइयों को उनकी गद्दारी के लिये मौत के घाट उतार कर स्वयं फांसी का वरण किया ।

चाफेकर भाईयों ने तो कुर्बानी दी ही लेकिन उनके घर वालों का साहस एवं प्रेरणा का बहुत ही सशक्त चित्रण प्रस्तुत उपन्यास में हुआ है। भारतीय इतिहास के वे पृष्ठ सहसा सजीव हो उठते हैं, जो स्वतन्त्रता सेनानियों के खून से रंगे हैं।

आज के मूल्यों के विघटन के युग में, जब क्षेत्रीयवाद जोर पकड़ रहा है, "अंगारों में फूल"का सन्देश सहसा प्रासंगिक हो उठता है। विशेष कर नयी पौध, आज के नवयुवकों के लिये प्रस्तुत उपन्यास भारत के गौरवपूर्ण इतिहास एवं राष्ट्रवादी भावना को जागृत करने के लिये बहुत महत्वूपर्ण है।

सन्तोष शैलजा की राष्ट्रवादी भावना उनकी अन्य रचनाओं में भी मिलती है परन्तु "अंगारों में फूल" के माध्यम से कथा में शैलजा ने अपनी विशिष्ट शैली एवं भाव-भंगिमा का परिचय दिया है। हिमाचली लेखक के एक उपन्यास "मिट्टी की गन्ध" में भी राष्ट्रीय भावना का चित्रण है परन्तु उसमें समकालीन जीवन का चित्रण है, जबकि शैलजा का उपन्यास स्वतन्त्रता-पूर्व के भारत की झांकी प्रस्तुत करता है।

मन एक प्यासी मछली

लोकप्रिय उपन्यास लेखन के क्षेत्र में कृष्ण कुमार नूतन का नाम अग्रणी है। इनके तीन उपन्यास पाकेट बुक्स में प्रकाशित हुए हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैः- मन एक प्यासी मछली (1975), संस्कार (1978) तथा मृदुला (1980) । नूतन के तीनों उपन्यास एक ही प्रकार की शैली में रचित है तथा इन सबके कथानक एक फिल्मी रोमांचकता से आच्छादित हैं। उपन्यासकार की कल्पनाशीलता प्रभावित करती है।

"मन एक प्यासी मछली" एक श्रेष्ठ कृति है। महात्मा आनन्द गंगा के किनारे रहते थे । आत्महत्या के उद्देश्य से गंगा में कूदने वाली युवती को महात्मा आनन्द बचा कर अपनी कुटिया में ले आता है। आनन्द का पशु जाग उठता है। वह बेहोश युवति के अंग-अंग को टटोलता है। चेतना लौटने पर युवती अपनी व्यथा-कथा सुनाती है तथा आनन्द से अनुरोध करती है कि वह उसका पति सूरज बन कर उसका वरण कर ले, ताकि उसका पाप छिपा रहे। मां-बाप पाप छिपाने के लिये सूरज बने आनन्द तथा अपनी कन्या का विवाह कर के उन्हें बम्बई भेज देते हैं। मालती के लड़की होते ही मर जाती

है । कंचन नाम की युवती सूरज पर मुग्ध होती है तथा उसे फांस लेती है। सूरज उसे नया जीवन देता है। फिर दो तीन वर्ष बाद माला तथा सूरज वाराणसी लौटते हैं। माला के सन्तान न होने के कारण सूरज को बदनाम किया जाता है। वह तंग आकर पुनः बम्बई भागता है। कंचन मृत्यु शय्या पर थी । उसमें पुनः जीव लौटता है परन्तु अन्ततः कंचन मर जाती है। बम्बई में सूरज को डाक्टर से पता चलता है कि माला तो प्रथम सन्तान के उपरान्त और सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य हो गयी थी । वह अपने आश्रम में लौटता है।

सूरज ने एक सुधारवादी पत्र निकाला-आनन्द भारती, जो स्मगलरों का भण्डा-फोड़ करता था । असली सूरज गैंग के सदस्य के रूप में डराने-धमकाने दफ़तर पर आ झपटा। वह पुनः माला से बलात्कार करता है। वह पुनः आत्महत्या के लिये प्रवृत्त होती है। आनन्द उसे रोकता है तथा रहस्योद्घाटन करता है कि वह तो सन्तान उत्पन्न करने में अक्षम हो चुकी थी । आनन्द तो वैरागी था। माला ने भी वैरागिन बनना स्वीकार किया ।आनन्द को संकोच हो रहा था । गुरू ने बीच आकर आदेश दिया कि वह उसे अपना ले, वैराग्य में अपने साथ रखे, फिर उसे कसौटी पर खरा उतरने पर संन्यासी बना दिया जाएगा ।

. शवयात्रा

ओंकार राही {1940}का उपन्यास "शव-यात्रा" भोगवादी दर्शन की प्रतिनिधि रचना है । निन्नी तथा उन्माद परस्पर प्रेम करते थे परन्तु निन्नी अपने पिता के समक्ष खुल न पाई तथा "उन्माद" को भाई कह गयी। सारी आयु पछताती रही। आदर्श को पालने वाली निन्नी विवाह के उपरान्त व्यभिचार का जीवन जीती है। उन्मन का यह कथन कि " मै उसके पति की नही अपितु एक अन्य व्यक्ति की अवैध सन्तान हूँ । " वैवाहिक सम्बन्धों के लिजलिजेपन को रेखांकित करता है। उन्माद उसे बेटी कहना चाहता है परन्तु उन्माद तो उससे शारीरिक सुख प्राप्त करना चाहती है। वह सारे हथकंडे अपनाती है तथा अन्ततः अपने उद्देश्य में सफल होती है।

प्रकाशकीय में उसे समकलीन राजनीति का ऐतिहासिक उपन्यास कहा गया है परन्तु कथानक में उन्माद एवं शिवा के प्रसंग आरोपित जान पड़ते हैं तथा इन का मूल कथा से दूर-पार का भी सम्बन्ध नहीं है। राजनीति एवं इतिहास के प्रसंगों को छोड़ दें तो उपन्यास अधिक रोचक एवं आकर्षक हो जाता है। नर-नारी के परस्पर सम्बन्धों का एक सार्थक दस्तावेज ।

मन-मंथन

गंगाराम राजी ने आंचलिक प्रयोग "मन मंथान" में किया है। उपन्यास की कथा आद्योपान्त आदर्श को लेकर चलती है। साथ ही साथ जीवन की विविध विसंगतियों

का चित्रण उपन्यास को अतिरिक्त आयाम प्रदान करता है। उपन्यास का नायक परोपकार के लिये कृतसंकल्प है तथा गरीबों के प्रति सचेत । वह उनके दुख-दर्द दूर करने के लिये प्रयत्नशील है। आदर्श आश्रम की स्थापना, आश्रम में विभिन्न व्यक्तियों का सात्विक मिलन इसे यथार्थ पर आधृत करता हुआ भी आदर्श तक ऊंचा उठा देता है। उपन्यास के पात्र सुनीता, जीवन, गायत्री आदि एकाएक सजीव हो उठते हैं। बग्गी बाजार के चौराहे में घूमने वाले विक्षिप्त व्यक्ति का रेखांकन उपन्यासकार की उपलब्धि है।

आतंक

"आतंक" हिमाचल अकादमी द्वारा पुरस्कृत लघु-उपन्यास है। वशिष्ठ ने भारतीय पुराण साहित्य का विशेष अध्ययन किया है। "आतंक" उपन्यास महाभारत की पृष्ठभूमि पर आधारित है। पुष्कर नाम के ब्राह्मण का मिश्रकेशी नाम की क्षत्रिय कन्या से प्रेम विवाह में परिणत हो गया। उन की तीन सन्तानें हुई-शलभ,शकुन्त तथा केशिनी। शकुन्त का ध्यान वेदों के अध्ययन में नहीं लगता। उसका क्षत्रियत्व फड़क उठता है। अन्त में वह युद्ध-भूमि में शत्रु को ललकारता है तथा अपने देश की रक्षा करता हुआ वीर-गति को प्राप्त होता है। उपन्यास राष्ट्रीय गौरव एवं सामाजिक दायित्व की कहानी है।

"आतंक" वशिष्ठ का एक मात्र उपन्यास है। कथा का निर्वाह एवं विचारों की स्पष्टता इस उपन्यास को महत्वपूर्ण बना देते हैं। पुरानी बात को समकालीन सन्दर्भ में सोद्देश्य प्रस्तुत करने में सुदर्शन को सफलता मिली है।

परम्परा

हिमाचल के युवा लेखको में तेजी से उभर कर अपनी पहचान बनाने वालों में दिनेश धर्मपाल ﴾जन्म 1947﴿ का नाम उल्लेखनीय है। "परम्परा"﴾1982﴿ लेखक का एक मात्र उपन्यास है।

परम्परा उपन्यास में पुरातन पंथी परम्पराओं को तोड़ कर नयी स्वस्थ मान्यताओं के सूत्रपात की कहानी बुनी गयी है। उदय और मेघ अपनी नयी खोज के सिलसिले में हरिजनों के गांव बदली जाते हैं। उनकी भेंट उजली तथा उसके भाई से होती है। उजली तथा उदय प्रणय पाश में बंधते है। पलतो तथा मेघ परस्पर आकर्षित होते हैं। वे विवाह पूर्व ही देह-भोग करते हैं। उजली का भाई यह जान कर अपने कुल्हाड़े से मेघ को मार देता है, कि उदय के भी उजली से सम्बंध थे। पलतो आत्महत्या कर लेती है। फिर सोलमन आत्महत्या कर लेता है। उदय और उजली का विवाह हो जाता है । उदय के मां-बाप पहले इस रिश्ते को स्वीकार नहीं करते परन्तु उपन्यास के अन्त तक पहुंचते-पहुंचते वे प्रायश्चित करते हैं तथा उजली को पुत्र-वधु के रूप में स्वीकार लेते हैं।

उपन्यास में ग्रामीण जीवन की पृष्ठभूमि उजागर होती है। हरिजन बस्ती का जीवन एवं दुर्दशा सहसा पाठकों का ध्यान आकर्षित करती है। हरिजन-समस्याओं पर लेखक की पकड़ गहरी है। अन्तर्जातीय विवाह करवा कर लेखक ने अपने सुधारवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। कथ्य के विषय में उदय के पिता के शब्द उद्धरणीय हैं- "बेटी, कुछ बंधे-बंधाये रिवाजों से चिपके रहना, उनमें जकड़े रहना, हमारी परम्परा थी और इन खोखले बंधनों को तोड़ना, उनकी जगह एक नये रिवाज, एक नये आदर्श को जन्म देना परम्परा है। परम्परा परिवर्तन चाहती है।" उपन्यास के पात्रों के नाम प्रतीकात्मक हैं।

कहीं कुछ और !

प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक (जन्म 1941) के उपन्यास "मिट्टी की गन्ध" (1982) में राष्ट्रीय भावना का उद्बोधन है। क्षेत्रीयवाद की प्रवृत्ति की निन्दा है। विश्वविद्यालयों की राजनीति का यथार्थपरक चित्रण है। फूलों की छाया (1983) में अपने भाई-बहनों के पालन-पोषण के लिये अपना जीवन न्यौछावर कर देने वाली पढ़ी-लिखी नायिका सुरभि की कथा है। "नागफांस" सन् 1980-81 में दैनिक ट्रिब्यून में धारावाहिक प्रकाशित हुआ था। इस में पारिवारिक जीवन की विसंगतियों का चित्रण हैं।

"कहीं कुछ और" (1978) लेखक का विवादास्पद उपन्यास है। विवाहपूर्व प्रेम के विवाहोपरान्त भड़क उठने से दाम्पत्य जीवन किस प्रकार तहस-नहस हो सकता है, इस का मनोवैज्ञानिक एवं प्रतीकात्मक चित्रण रोमांसिक कथा के माध्यम से हुआ है। पात्र प्रतीकात्मक है तथा जीवन के अनेक पक्षों को अनेक धरातलों पर रेखांकित करते हैं।

"कहीं कुछ और" को कतिपय समीक्षकों ने बेहद रोचक एवं यथार्थपरक उपन्यास कहा है तथा दूसरों ने इसे उच्छृंखल चित-वृत्तियों का मांसल तथा नग्न चित्रण कहा है। प्रेम के विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण इस उपन्यास को बाकी रोमांसिक उपन्यासों से अलग करते हैं। लेखक का पांचवा उपन्यास "कमरा नम्बर 16" अभी अपूर्ण है।

अन्य उपन्यासकार

हिमाचली उपन्यास साहित्य में कतिपय अन्य प्रतिभाएं भी उभर कर सामने आ रही हैं। इनमें से कुछ एक उल्लेखनीय नाम है- संसार चन्द प्रभाकर, त्रिलोक राही, मनोहर सागर पालमपुरी, रमेश अरूण, अशोक सरीन, प्रदीप शर्मा, हंस राज, पीयूष गुलेरी, सुन्दर लोहिया आदि। सुन्दर लोहिया का उपन्यास "धार की धूप" हिमप्रस्थ मासिक में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। कैलाश भारद्वाज का एक उपन्यास 1954 में छपा था। हरदयाल नास्तिक का "लहरे और तिनके" भी बहुत पहले छपा था। आश्चर्य है कि अधिकांश उपन्यासकार एक-एक कृति के बाद मौन हो गये हैं। महाराज कृष्ण काव का आसमान नहीं

गिरते, उत्तम परमार के नारी जीवन पर केन्द्रित उपन्यास ओंकार राही का सम्पर्क, पी· सी· के· प्रेम के उपन्यास"आकाश मेरा नहीं","फाईल गवाह है" रमेश शर्मा का "पांचाली" कुछ और महत्वपूर्ण उपन्यास हैं।

निष्कर्ष

हिमाचल प्रदेश का हिन्दी उपन्यास पर्याप्त समृद्ध है तथा राष्ट्रीय धारा से किसी भी प्रकार पीछे नहीं। राष्ट्रवादी-समाजवादी चेतना जागृत करने में, सामाजिक समस्याओं को समकालीन परिदृश्य में देखने-परखने तथा जन-भावनाओं को दिशा देने में यह रचनाएं सक्षम हैं परन्तु इनकी व्यापक चर्चा का न होना चिंता की बात है।

हिमाचल के हिन्दी उपन्यासों में आंचलिक जन-जीवन की झांकी मिलती है । ग्रामीण एवं कस्बाई संस्कृति को रेखांकित करने वाले ये उपन्यास हिमाचली हिन्दी उपन्यास के विशिष्ट योगदान को रेखांकित करते हैं। दूसरी धारा रोमांसिक उपन्यासों की है, जिन में नर-नारी सम्बन्धित ग्रन्थियों का मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। गत कुछ वर्षों में हिमाचल में उपन्यास के क्षेत्र में जो तीव्रगामी प्रभावशाली क्रांति आई है, उसे नज़र-अन्दाज़ नहीं किया जा सकता ।

लक्ष्मी नारायण मंदिर परिसर चम्बा·

यशपाल जी का "मैं और मेरा परिवेश"

डा० ब्रह्मदत्त शर्मा

यशपाल हिन्दी के जाने-माने, लोक प्रतिष्ठित तथा युग के सामाजिक यथार्थ को मार्क्सवादी दृष्टि से प्रस्तुत करने वाले विशिष्ट कथा-शिल्पी हैं । वे सामाजिक चेतना के अग्रणी कृतिकार ही नहीं बल्कि स्वतन्त्र लेखन के संघर्षशील जीवन के प्रतीक भी थे। प्रेम-चन्द के पश्चात् यशपाल ने अपने सशक्त लेखन से आम आदमी की पक्षधरता का झण्डा जिस तरह बुलन्द रखा, वह एक ऐतिहासिक सत्य है। वे आधुनिक हिन्दी-साहित्य में सर्व-तोमुखी सर्जना के एक ऐसे विरत बहुमुखी प्रतिभावान साहित्यकार थे, जो किसी देश के साहित्य में शताब्दियों पश्चात् उत्पन्न होते हैं। कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, संस्मरण सभी गद्य विधाओं पर उन्होंनें प्रभूत मात्रा में लिखा। उनका सृजन एक नवीन युग का सूत्रपात करता है। यशपाल मूलतः अपने युग-बोध से जुड़े यथार्थद्रष्टा रचनाकार हैं। अपने युग के यथार्थ को जितनी व्यापकता, विस्तार तथा संश्लिष्टता से उसके सारे ज्वलन्त प्रश्नों के साथ उन्होंने चित्रित किया है, वैसा कम देखने को मिलता है। एक प्रतिबद्द तथा सामाजिक दृष्टि से सम्पन्न रचनाकार होने के नाते अपने युग के यथार्थ का चित्रण मात्र करके उन्होंने छुट्टी नहीं ली, वरन् वर्तमान जीवन के मूलभूत प्रश्नों को कुरेद-कुरेद कर उनपर तीखी टिप्पणियां भी की हैं, सार्थक निष्कर्ष भी दिए हैं। साधारण जनता के प्रति अपनी सलग्नता, न्याय के प्रति प्रतिबद्दता, मानव-व्यवहार की विचित्रता को अपनी समझ और गहरी सहानुभूति तथा संवेदना के साथ मानव-जीवन के अंकन, अपनी सादा और पुअसर लेखन-शैली की दृष्टि से हिन्दी में यशपाल प्रेमचन्द के उत्तराधिकारी ठहरते हैं। कति-पय विद्वानों ने यशपाल को प्रेमचन्द की तिरोहित प्रतिभा की तरूण शक्ति कहा है।

यशपाल का अधिकांश साहित्य-प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त अभी उनकी ऐसी अनेक रचनाएं भी हैं, जो प्रकाशन के अभाव में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। यहां प्रस्तुत है उनकी एक अप्रकाशित रचना--

कहा जाता है कि कुछ लोग केवल जीते हैं। अभिप्राय है कि ऐसे लोग जैसे-

तैसे प्राणरक्षा कर लेने से संतुष्ट हो जाते हैं । निस्संकोच स्वीकार करूंगा कि जीवन में मेरा दृष्टिकोण और व्यवहार ऐसे नहीं रहे। याद है कि चेतना सम्भालने के दिन से ही मुझे परिस्थितियों की लहरों में बह जाना मंजूर नहीं हुआ, लेकिन यह कह सकने का अधि -कारी भी तो नहीं हूं कि मैं जीवन के हर पल से कुछ न कुछ ग्रहण कर सका हूं या एतदर्थ ऐसा कोई मार्ग बता सकता हूं। हां, इतना संतोष जरूर है कि मैंने पिटकर जीना स्वीकार नहीं किया और मुझे जिन्दगी के लगभग सत्तर वर्ष व्यर्थ गवा देने का खेद नहीं है ।

मेरे जीवन का माध्यम साहित्य है। माध्यम शब्द का उपयोग व्यापक अर्थों में कर् रहा हूं, प्रयोजन, साधन और परिणति के अर्थों में ही नहीं, जीविका के अर्थ में भी। यह दम्भ न करूंगा कि मैंने साहित्य का माध्यम जीवन के प्रयोजन की अभिव्यक्ति और जीविका के रूप में त्याग की उदात्त भावना से चुना था। जहां तक रूचि और प्रवृत्ति का सवाल है, यह सच है कि मैं किशोरावस्था यानी दस से चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु में भी साहित्य से बहुत संतोष पाता था । साहित्य से अभिप्राय उच्च स्तरीय गद्य-पद्य काव्यों से नहीं, बल्कि कथा-कहानी, यात्रा-वर्णनों और वर्णनात्मक रचनाओं से है। ऐसी रचनाओं के अध्ययन से इतना मुग्ध हो जाता कि उस आयु में ही स्वयं भी वैसी रचना कर सकने का स्फुरण अनुभव हो जाता । यदि उस स्फुरण को मेरी लेखन-प्रवृति का बीज कहना चाहें, या उसे साहित्य की प्रेरणा का नाम देना चाहें तो मुझे आपत्ति नहीं। मुझे याद है उसी आयु में किसी निश्चित उद्देश्य की चेतना के बिना, केवल कहानी लिख सकने के संतोष के लिए उस आयु के सामर्थ्यानुसार कहानियां लिखीं थी। मेरे उन प्रयत्नों की तुलना मेरे समवयस्कों के पतंग या कंदील बना सकने के प्रयत्नों से की जा सकती थी। उसमें विशिष्ट या महान कैसे खोज निकाला जाये। वस्तु, इसे मेरी लेखन-प्रवृत्ति या क्षमता का बीज या सूत्रपात कहा जा सकता है।

मेरा अनुभव है कि लेखन में रूचि या लेखन की क्षमता होने से ही व्यक्ति लेखन को जीविका का माध्यम नहीं बना लेता। उदाहरण गिनाने की जरूरत नहीं। जीविका का साधन या माध्यम व्यक्ति अनिवार्यतः परिस्थितियों और परिवेश के कारण अपनाता या चुनता है। मेरी परिस्थितियों में ऐसे कारण यानी मेरा परिवेश मेरी मजबूरियाँ थी। इसे मेरे परिवेश की बात भी समझा जा सकता है।

आपका कौतूहल अधिक न बढ़ाने के लिए कुछ तथ्य बता दूं। 1920 में मैट्रिक की परीक्षा जिले में सविशेष अकों से पास की थी। इसलिए छात्रवृत्ति का अधिकारी भी। हमारे परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर थी, इसलिए आगे शिक्षा पाने के लिए छात्र-वृत्ति बहुत बड़ी चीज । यह भी कह दूं, उस समय सफल वकीलों की प्रतिष्ठा गैर समृद्धि

देखकर मेरा सपना वकील बनने का था। उसी समय कांग्रेस और गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार से असहयोग की अपील की। सरकारी नौकरियों, अदालतों, शिक्षा संस्थाओं से असहयोग । एक बरस में स्वराज का आश्वासन। मैं स्कालरशिप के लिए राष्ट्रीय पुकार की अवहेलना न कर सका। सभी सम्बन्धियो और हितचिंतकों से नसीहत और फटकार सुनी परन्तु अपनी समझ से कर्तव्य की उपेक्षा करके वकील बनने का यत्न जारी न रख सका। उस कठिनाई में सहानुभूति मिली तो मां से । जिसे मेरी बगावत के कारण सबसे अधिक कठिनाई सहनी थी। मां ने कहा-"अच्छा काम कर रहे हो। साहस है तो करो । मेरी चिंता मत करो।" साफ कह दूं, मैं जैसा जो कुछ भी हूं, उस पर मां का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा ।

सन् 1921, फरवरी में चौराचौरी कांड के कारण गांधी जी ने उस असहयोग सत्याग्रह आन्दोलन को अपनी हिमालय जितनी बड़ी भूल मान लिया। सत्याग्रह असहयोग स्थागित और हजारों विद्यार्थी, शायद सौ में निन्यानवे स्कूल-कालिजों को वापस लौट गये। कुछ नहीं लौटे। उनमें हूं एक मैं भी। लौटता कैसे, थूके हुए को चाटना असह्य। चाट सकने का मौका भी कहां । वह स्कालरशिप तो अब मिल न सकता था। बात साफ कर देना अच्छा समझता हूं। सरकारी कालिज में पढ़ना नामंजूर तो वकील बनने या अच्छी सरकारी नौकरी का स्वप्न भी समाप्त । कारोबारी व्यवसाय के लिए न रूचि, न उसकी समझ और सबसे बड़ी बात साधन कहां। अखबार और पुस्तकें, खासतौर पर कथा, कहानी, जासूसी उपन्यास भी पढ़ता ही था। वैसा लिख सकने की उमंग और विश्वास कि अखबार में काम करने वालों, पुस्तक लिखने वालों को कुछ तो मिलता ही होगा, नट, मदारी भी लोगों का दिल बहला कर जिंदा रहते हैं। सरकारी नौकरी के रूप में देशद्रोह करना नहीं । जैसे भी निर्वाह हो, मन की बात तो कह पायेंगे। लेखक के व्यवसाय और जीवन के यथार्थ का कुछ परिचय न था । इस पर लेखन से जीविका का एक अस्पष्ट स्वप्न। एक रिश्तेदार बुजुर्ग विरक्ति से कह देते थे--"यह पागलपन है, मृग-मरीचिका।"

मुझे ढालने वाले परिवेश की बात अभी अधूरी है। अपनी बात कह पाने की संतुष्टि और जीविका के लिये लेखक या पत्रकार बनने का यत्न करना है, परन्तु उसके लिए सामर्थ्य । मुझमें कवि की प्रतिभा और आत्मविश्वास न था कि मेरे अन्तरात्मा में सौन्दर्य और प्रेरणा की अजस्रधारा का स्रोत मौजूद है। इसलिए कहने लायक बात ढंग से कह सकने के लिए ज्ञान, चिन्तन और अभिव्यक्ति के साधन की शिक्षा-दीक्षा जरूरी। यानी अभी और पढ़ना चाहिए जैसे भी हो ।

स्वर्गीय शेरे पंजाब लाला लाजपतराय द्वारा लाहौर में स्थापित नेशनल कालिज में पढ़ने चला गया । इस कालेज में संगति पाई शहीद साथियों, भगतसिंह, सुखदेव और

भगवतीचरण की। कुछ वही बात, करेला और नीम चढ़ा। यह सब साथी विदेशी शासन-विराधी, भावना में मुझसे उग्र। संक्षेप में, आपस में निश्चय हुआ कि कांग्रेस जो करे सो करे, विदेशी शासन से मुक्ति का संघर्ष जारी रहेगा और उस समय की हम लोगों की समझ के अनुसार कांग्रेस का वैधानिक शांतिपूर्ण संघर्ष, पीसफुल्ल और लैजिटीमेट स्ट्रगल आत्म प्रवंचना मात्र था । निश्चयपूर्वक हमारा संघर्ष पूर्ण बगावत होगा, सभी साधनों और उपायों से वही मार्ग जिस पर हमसे पहले पंजाब में गदर पार्टी, बंगाल और देश के अन्य भागों में सशस्त्र क्रान्ति में विश्वास रखने वाले युवक चले थे और चल रहे थे। परन्तु कुछ अन्तर भी। हम लोग कालिज में अमेरिका-यूरोप का इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र भी पढ़ते थे। उसके अतिरिक्त पश्चिम से आयी सामयिक विचारधाराओं को समझने के प्रयत्न भी करते थे। इसलिए देश, जनता और स्वतन्त्रता के विषय में हमा-री समझ बदलती जा रही थी। हमने रामराज्य और जगत-गुरु ऋषियों के भारत के पुनरुत्थान के स्वप्न कभी नहीं देखे। राष्ट्र की स्वतन्त्रता की हमारी कल्पना श्रेणी और वर्ण-भेद रहित ऐसे समाज की थी जिसमें बहुजन को आत्मनिर्णय से जीवन के भौतिक और मानसिक अवसरों की समान सुविधा और अपने श्रम का पूरा फल पाने का अधिकार और अवसर होगा, जिसे आजकल समाजवाद और "गरीबी हटाओ" लक्ष्य का नाम दिया जाता है। हम लोगों ने अपने संगठन का नाम ही रखा था, "हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र सेना"।

"मैं" का प्रसंग बहुत खिंच रहा है, लेकिन बात स्पष्ट करना जरूरी । कालिज में मेरा लिखने का प्रयत्न या अभ्यास जारी रहा। मेरी चार-छः मोटी रचनाएं जहां तहां पत्रों में प्रकाशित भी हो गईं। उस लेखन से केवल स्वान्तः सुख या अभिव्यक्ति का संतोष हो पाया अपनी कल्पना के विरुद्ध पहली पगार या जीविका लेखन से नहीं, अध्यापन से पायी। शुरू में स्वयं पढ़ सकने के लिए टयूशन करने और ग्रेजुएट हो जाने पर उसी संस्था में अध्यापन का काम मिल जाने से । पर वह चला नहीं, शायद मैं निवाह भी न पाता।

1928 के अन्त में भगतसिंह, सुखदेव और दूसरे साथी पहले फरार हुए और फिर गिरफ्तार उसी क्रम में मुझे भी फरार हो जाना पड़ा । फरारी में नित्य नाम बदल-ने की मजबूरी। उस अवस्था में व्यक्ति अपने नाम की अभिव्यक्ति और प्रकाशन की ललक कैसे पूरी कर सकता है। वह ललक तब भी उग्र और सजीव रही, परन्तु उस समय अधिक जरूरी काम थे-- बम और पिस्तौल के आयोजन। 1932 में गिरफ्तार होकर चौदह वर्ष की जेल। कहने को तो कठोर कारावास था, परन्तु उच्चस्तरीय राजनैतिक बंदी, लिखने-पढ़ने की सुविधा पाते थे। जेल चौदह बरस न काटनी पड़ी। 1938 में पहली बार कांग्रेस मंत्रीमण्डल बनने पर रिहा कर दिया गया ।

जेल से रिहा हुआ तो आयु के पैंतीसवें साल में यानी आधी आयु बीत चुकी

थी। फिर निर्णय या परिवेश चुनने की मजबूरी। लेकिन चुनने को था क्या। उस उम्र में सरकारी नौकरी का क्या सवाल और उद्योग, कारोबार आरम्भ करने के लिए साधन कहां। एक ही क्षमता जो कुछ अर्जित की थी, कलम से अभिव्यक्ति। जीविका का पहला साधन बनी, एक साप्ताहिक में डेढ़ मास की नौकरी। उसे निबाह न सकने के कारण अपना मासिक पत्र विप्लव आरम्भ करने की जोखिम । लोगों को वह जादुई कहानी जान पड़ेगी, पर है सब केवल तीन सौ की पूंजी से । पर एक बहुत बड़ा साधन या सहारा था, पत्नी प्रकाश वती का सहयोग। विप्लव में हमें क्या सफलता मिली यह दूसरे लोग भी जानते हैं। विप्लव का प्रकाशन सरकारी असंतोष से पहले विदेशी शासन के और फिर अपने ही शासन के असं-तोष से स्थगित हो गया । लेकिन मेरे सम्पूर्ण लेखन-प्रकाशन में उसी विप्लव की आत्मा कायम है।

अपने शेष परिवेश की बात। जेल से रिहाई के बाद, बहुत बार अपने से ही प्रश्न किया गया-"राजनैतिक संघर्ष से बिल्कुल उपराम क्यों । मेरा उत्तर था," राजनीति का अर्थ जीवन के प्रति सामूहिक चेतना से सक्रिय होना है। पहली परिस्थितियों में वह काम बुलेट, बन्दूक से करना ठीक जचा था अब वह काम बुलेटीन यानी कलम से बेहतर कर सकने का विश्वास है" मेरे सम्पूर्ण परिवेश की व्याख्या इसी वाक्य को समझा जा सकता है।
मैं मानव जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता, अधिकार, सफलता, आत्म निर्णय के अवसर और क्षमता को मानता हूं। वही वास्तविक स्वतन्त्रता है। मेरे विचार में अधिकार और अवसर से भी अधिक जरूरी है क्षमता। आत्मनिर्णय की क्षमता न होने पर उसके अधिकार और अवसर व्यर्थ रह जाते हैं। आत्मनिर्णय की क्षमता है मानसिक प्रवृति और शक्ति । अपने समाज और राष्ट्र की आत्मनिर्णय की क्षमता को स्फुरित और उग्र कर सकने में मुझे बडा संतोष है। आप इसे मेरी महत्वाकांक्षा या अहंकार कह दें तो इन्कार न कर सकूंगा।

अपने समाज और राष्ट्र में इस क्षमता की उपेक्षा या न्यूनता देखना, अनुभव करना मेरा सबसे कटु या असहय परिवेश है। उसे जीवन के आरम्भ से ही अनुभव किया था। वैक्तिक मन ही, सामूहिक है। उस सामूहिक दृष्टि से चिंतन और अभिव्यक्ति ही मेरी नजर में साहित्य है या मेरा परिवेश ।

आत्मनिर्णय की क्षमता में सबसे बड़ी रूकावटें हैं, परम्पराओं के अन्य अनुगमन को सदगुण मान कर स्वयं निर्णय का अधिकार तथा अवसर खो देना। अंध विश्वासों की उस नींद को तोड़ने की आवश्यकता ही मेरा परिवेश है। इसलिए सामाजिक जीवन में कदम-कदम पर अन्तर-विरोधों की ओर संकेत करना ही मेरा साहित्य या मेरी उपलब्धि है। उस में रम जाना है मेरा सबसे बड़ा संतोष। मेरी जीविका भी वही है। निर्वाह के लिए समाज से जो कुछ पाता हूं इस श्रम के लिए इसलिए उसे और अधिक लगन से निबाहने का आग्रह है।

माघी

–सुदर्शन डोगरा–

माघ मास की संक्रान्ति को माघी भी कहा जाता है। संक्रान्ति से एक दिन पहले अर्थात् माघी की पूर्व सन्ध्या को समस्त भारत में लोहड़ी का त्यौहार मनाया जाता है । यूं तो पौष मास की संक्रान्ति से ही इस त्यौहार का शुभारम्भ माना जाता है। कांगड़ा जनपद में बालक-बालिकाएं लुकड़िया गाते हैं। ये बालक झुण्डों में इकट्ठे हो कर घर-घर जाते है और प्रत्येक घर में नई लुकड़ी गाते हैं जिन में से कुछ के बोल इस प्रकार हैं-

पैसे दा कद्दू मंगाया, पैसे दा कद्दू मंगाया
आणी सुट्टेया दरूआर अड़िये,
लगा सुआद मेरे कद्दूए दा।
लई दरांटी चीरन बैठी, लई दराटी चीरन बैठी,
टुकड़े कित्ते छिः चार अडिये
लगा सुआद मेरे कद्दूए दा ।
चीरी चारी तुड़कें पाया, चीरी-चारी तुड़कें पाया
मुसक चली बाजार अड़िये
लगा सुआद मेरे कद्दूए दा ।
थाली लई करी खाणा बैठी, थाली लई करी खाणा बैठी
नणद खड़ी दरूआर अड़िये,
लगा सुआद मेरे कद्दूए दा ।

लड़कियों द्वारा गाई जाने वाली एक अन्य लुकड़ी भी बहु प्रचलित लुकड़ी है--

सेर की कणियां छक्कुए च पांदी,
गांह मिल्ला देर प्रोहणा वो मेरेया छक्कुआ ।
आ : देरा तेरा आदर करदी
आ : देरा तेरा आदर करदी
चौलां दा बबरू खुआणा वो मेरेया छक्कुआ ।

सेर की दाणे छक्कुए च पांदी
गांह मिल्ला सोहरा प्रोहुणा वो मेरेया छक्कुआ
आ : सोहरेया तेरा आदर करदी
कणका दा फुलका खुआणा वो मेरेया छक्कुआ ।

इसी प्रकार जब लड़के अलग से लुकड़ी गाने चलते हैं तो वे इस प्रकार की लुकड़ी दोहराते हैं--

जट्टी मटटी घेरनी जट्टे नै नी छेड़नी
जटट जाई पकारेया, जट्टें माधो मारेया
माधो अन्दी छत्तरी, निकली पै खतरी
खत्तरियैं मारेया बाण, निकलेया तरखाण
तरखाणै घड़ी डोई, निकलेया सोई
सोईयैं सीता कुर्तू निकलेया मिंया भुडकू।
आहः कलोड़ू , जाह कलोड़ू भुडकू-भुडकू ।

ग्रामीण इन बालकों को धान देते हैं तथा शहरों में बालकों को पैसे दिये जाते हैं। शिक्षा के प्रचार व प्रसार से अब बालकों के पास समय कम ही बचता है परन्तु फिर भी किसान वर्ग के बच्चे इस प्रथा को बनाए रखने में अपना सहयोग देना नहीं भूले हैं। माघी के पूर्व मासान्त को बालक तिल चौली मांगते है और लोग उस दिन उन्हें केवल धान ही न देकर रेवड़ियां और कुछ पकवान भी देते हैं। तिल चौली का अपना ही गीत होता है।

तिल्ल चोलिये हा हा
गूगा मौलिये हा हा
गूगए जम्मेया था हा हा
गुड़ बन्डेया था हा हा
असां खाधा था हा हा
हाली आया था हा हा
मूलिया ल्याया था हा हा
असा खाधियां थिआं हा हा
गूगा मौलिये हा हा ।

लोहड़ी की रात्रि को लोग चावल के आटे के बबरू और गेहूं के आटे से भटूरू तथा माश की दाल से भल्ले बनाते हैं। चूल्हे को साफ मिट्टी से पोत कर सफेद मिट्टी से बेल बूटे बना कर सजाया जाता है या कुछ लोग आग तापने वाली अंगीठी को लीप पोत कर सजा लेते हैं । घर के सभी सदस्य हाथ पांव धोकर अग्नि के पास बैठ जाते हैं और सर्वप्रथम

घर का मुखिया जल, कुमकुम अक्षत, पुष्प, दूब तथा धूप-दीप द्वारा अग्नि की पूजा करता है। अग्नि में सर्व प्रथम आहुति तिल चौली की डालते हैं। तिल चौली धुले हुए बासमती के चावल, रेवड़ियां, खोया, किशमिश, अखरोट की गिरियां, मूली के बारीक टुकड़े तथा चिड़वे आदि मिला कर तैयार की जाती है। इसके पश्चात् साबुत फल जैसे अखरोट या सुपारी की आहुति डालने के उपरान्त घर में पकाए गए पकवानों को अग्नि में भेंट करने के पश्चात घर के सभी सदस्य आयु के दर्जे के अनुसार अग्नि की पूजा करते हैं तथा पकाए गए पकवान को पास-पड़ोस व निकटस्थ सम्बन्धियों में बांट कर खाते हैं।

गांव के युवक रात्रि को लोक नाट्य "हिरण" का आयोजन करते हैं और घर-घर जाकर नृत्य व भान्ति-भान्ति की भाव भगिमाओं व नाट्यों द्वारा लोगों का मनोरंजन करते हैं। दो बालकों की पीठ में चादर डाल कर आगे हिरण के दो लम्बे सींग लगा कर "हिरण" बनाया जाता है। आगे हिरण को रख कर उसके पीछे गांव के युवक ढोल, नगाड़ा व शहनाई बजाते हुए गांव में घूमते हैं। जो लोग सो गये होते हैं उन्हें हिरण अपने सींग उनके दरवाजों पर मार-मार कर जगाता है तथा लड़के ढोल नगाड़े के साथ गाते है--

हिरण मंगे तिलचौली दे
लाल गुड़े दी रोड़ी दे
दिंदी है दुआंदी है
कोठे हथा पुआंदी है ।

लोग उठ कर सम्मान पूर्वक हिरण को नमस्कार करते हैं। उनके नृत्य को देखते तथा उन्हें चावल, पकवान तथा यथा शक्ति रूपये पैसे देते हैं । जिस घर में किसी के पुत्र की पहली लोहड़ी तथा बहू की पहली लोहड़ी आती है वहां इन लोगों को और भी अधिक रूपये मिलते हैं। प्रत्येक गांव में एक-एक हिरण अवश्य बनाया जाता है तथा रात भर कोई न कोई हिरण चला ही रहता है। इस प्रकार लोहड़ी की रात नाच, गान देखने व अन्न, वस्त्र तथा भोजन बांटने में बीत जाती है।

संक्रान्ति को गांव की स्त्रियां समीप के जलाशयों में स्नान करने जाती हैं और तारों के रहते ही नहा कर वापिस लौट आती हैं। कुछ लोग हरिद्वार, कूज द्वार, तत्तापानी बैजनाथ तथा गण गंगा में स्नान करने जाते हैं। उत्तर प्रदेश में स्थित प्रयाग राज के संगम में कई लोग इस दिन स्नान करने जाते हैं। महापुरूषों के अनुसार इस दिन नाम, दान और स्नान का बड़ा महत्व माना गया है।

पो फटने से पहले ही लड़कियां राजड़े गाने के लिए निकल पड़ती हैं तथा घर-घर जाकर गाती हैं और लोग उन्हें चावल तथा माश देते हैं। राजड़े इस प्रकार गाती हैं-

असा आईयां राजड़ेयो, राजड़ेयो

राजदुआरें आईयां भाईयो, राज दुआरें आईयां
चौलां माह रेड़दिये, रेड़दिये
दीयां माए चौल माह, चौल माह
उप्पर पांयां सक्कर, भाई, उप्पर पायां सक्कर
धीया तेरीया लाड़लियां, लाड़लियां
पुत्र तेरे ठौकर भाई पुतर तेरे ठौकर
पैरें लगी ठंडणी, ठंडणी
बाट्ट किआ हंडणी हंडणी
सिर खड़े सराल भाई सिर खड़े सराल ।

सूर्योदय के बाद लुकड़ी मांगने वाली बालिकाएं अपने घर चली जाती हैं। प्रत्येक घर में स्त्री पुरूष, बूढ़े, बच्चे सभी स्नान करते हैं और चावल, माश, गुड़, घी आदि का दान कर अपने कुलपुरोहित को देते हैं। प्रत्येक गृहस्था में अपनी विवाहिता बेटी-बहनों को लोहड़ी के दिन बुलाया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य निकटस्था सम्बन्धियों तथा मित्रों को भी अपने घर बुलाकर साबुत माश की खिचड़ी घी, दही तथा दूध के साथ खिलाई जाती है खिचड़ी खा चुकने के उपरान्त मीठे चावल परोसते हैं तथा टोकरे भर-भर कर खिचड़ी गरीबों में बांटी जाती है। गांवों में निम्न जातियों के लोग घर-घर जाकर खिचड़ी मांगते हैं जिन्हें कांगड़ी बोली में "तुहारखड़ू" अर्थात् त्यौहार पर मांगने वाले कहा जाता है। ये लोग लोहड़ी पर मांग कर लाई गई खिचड़ी को कई-कई दिनों तक खाते रहते हैं।

कुछ लोग लोहड़ी पर अपना मित्तर तथा मितरनी अर्थात् भाई-बहन भी बनाते हैं। ऐसा करते हुए मित्तर बनाते समय दोनों मित्र एक दूसरे के सिर पर एक रूपये का वारना करते हैं और परस्पर गले मिलते हैं और एक दूसरे को रूमाल व गरी का खोपा देते हैं। लड़कियां परस्पर चूड़ियां, परांदा, बिन्दी, कंघी व गरी के गोले का आदान-प्रदान करती हैं तथा गले मिलती हैं। यह प्रथा अधिकतर गद्दी लोगों में प्रचलित है।

कुछ लोग इस दिन निर्धनों को वस्त्र तथा भोजन का दान करते हैं। कई स्त्रियां अपने से बड़ी बूढ़ी स्त्रियों को गर्म जुराबें, शाल, गर्म पानी की बोतल तथा गर्म वस्त्र भेंट करती हैं। कुछ लोग एक दो बोरी कच्चा कोयला दान करते हैं ताकि लोग सर्दी के दिनों में सेक सकें। कम्बल और बिस्तर दान करने की भी प्रथा का व्यापक रूप से प्रचलन है। अपनी धी-ध्याणो (बहन-बेटियों) को भी इस अवसर पर वस्त्र देने का प्रचलन है। किन्हीं-किन्हीं भागों में लोग चिलगोजे, बादाम, किशमिश तथा अखरोट की गिरियों के हार बना कर बच्चों के गले में डालते हैं। पुत्र जन्म के उपरान्त आने वाली प्रथम लोहड़ी को लोग विशेष धूम-धाम से मनाते हैं। ऐसे अवसर पर बाहर खुले स्थान पर ढेरों लकड़ी डाल कर आग जलाई जाती है। जिसे सभी घर वाले तथा निकटस्था सम्बन्धी मित्र सामूहिक रूप से तापते

और नाचते गाते हैं। बुलाए हुए लोगों में चिड़बे, रेवड़ी, मूंगफली गच्चक व मेवा बांटा जाता है। कई स्थानों पर जहां लोग स्नान करने जाते हैं मेले लगते हैं। ज़िला शिमला में तत्ता पानी के स्थान पर लोग स्नान करने जाते हैं। यह त्यौहार समस्त हिमाचल प्रदेश में बड़ी धूम-धाम से हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है। जिला किन्नौर में इस उत्सव को "कोठी" नामक स्थान पर इस प्रकार मनाया जाता है--

कोठी का राजो उत्सवः

जिला किन्नौर में स्थित कोठी गांव में राजो उत्सव प्रतिवर्ष माघ मास की सक्रांति को मनाया जाता है। इस अवसर पर लोग प्राकृतिक झरने में और कुछ सतलुज दरिया में स्नान करते हैं। प्रत्येक घर में से एक दो प्रौढ़ स्त्रियां अर्ध रात्रि को उठकर जलाशय में स्नान करने जाती हैं।

प्रत्येक घर में बढ़िया एवं स्वादिष्ट व्यन्जन तैयार किये जाते हैं जिनमें चिलटे, पूड़ियां, मांस, हल्वा, दालें, चावल, सब्जियां मुख्य होती हैं। प्रातःकाल उठकर किशमू देवता की पूजा की जाती है तत्पश्चात् अग्नि कुण्ड अर्थात् चूल्हे की पूजा की जाती है और पकाए गए व्यन्जनों का भोग लगा कर आपस में बांटकर खाते हैं।

दोपहर के बाद गांव की देवी को बाहर लाया जाता है तथा उसकी पूजा हल्वे तथा शराब से करने के पश्चात् लोक नृत्य का आयोजन किया जाता है। रात्रि को बन्दूक की गोलियां दागी जाती हैं। ऐसी धारणा है कि ऐसा करने से वायुमण्डल में स्थित दुष्ट आत्माएं भाग जाती हैं। लोक विश्वास के अनुसार गांव की देवी इस दिन किन्नर कैलाश को चली जाती है।

लोगों में एक धारणा बनी हुई है कि किन्नौर के सभी देवता शिवजी की अध्यक्षता में होने वाली सभा में भाग लेने के लिए किन्नर कैलाश चले जांते हैं। यह स्थान "कोठी" कहलाता है। इस चोटी का नामकरण "वाणासुर" दैत्य ने किया था। यहीं पर बैठ कर उसने शिवजी का वरदान पाने के लिए कठोर तपस्या की थी ऐसा लोगों का विश्वास है ।

सभा में सभी देवता भगवान शिव की स्तुति करते हैं तथा अपने-अपने क्षेत्र की पूरी रिपोर्ट देते हैं। सभी की समाप्ति पर भगवान शंकर सभी देवताओं को आशीर्वाद देते हैं। जिन देवताओं से वे सन्तुष्ट नहीं होते उन्हें शाप देते हैं। कोई देवता तो अपने गांव की सुख-समृद्धि का वरदान पाकर लौटता है तो कोई शाप पाकर। वरदान पाने वाले देवता के गांवों में आने वाले वर्ष में फसल अधिक होती है और किसी प्रकार की दुखद घटना नहीं घटती । इसके विपरीत शाप ग्रस्त देवता के इलाके में सूखा पड़ता है और महामारी जैसी कई प्रकार की दुर्घटनाएं घटती हैं। गांव का देवता वरदान पाकर लौटा है या शाप लेकर

इसकी सूचना ग्रामीणों को देवता के "गुर" के माध्यम से मिलती है। इस सूचना के उपरान्त वे यथा स्थिति स्वयं को तैयार कर लेते हैं। देवता कब वापिस लौटेंगे इसकी सूचना भी गुर ही देता है।

जिन दिनों ऐसा समझ लिया जाता है कि देवता किन्नर कैलाश को गए हुए हैं तब उनकी पूजा व श्रृंगार एक निश्चित समय के लिए बन्द कर दी जाती है। उनके मन्दिरों में पूजन तभी आरम्भ होता है जब वे कैलाश से लौटकर घर आते हैं। उनके आने की सूचना गुर के माध्यम से लोगों को प्राप्त होती है। इस प्रकार माघी अर्थात् लोहड़ी का त्यौहार प्रदेश के विभिन्न हिस्सों में अपने-अपने रिवाजों के अनुसार हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है।

xxxxx

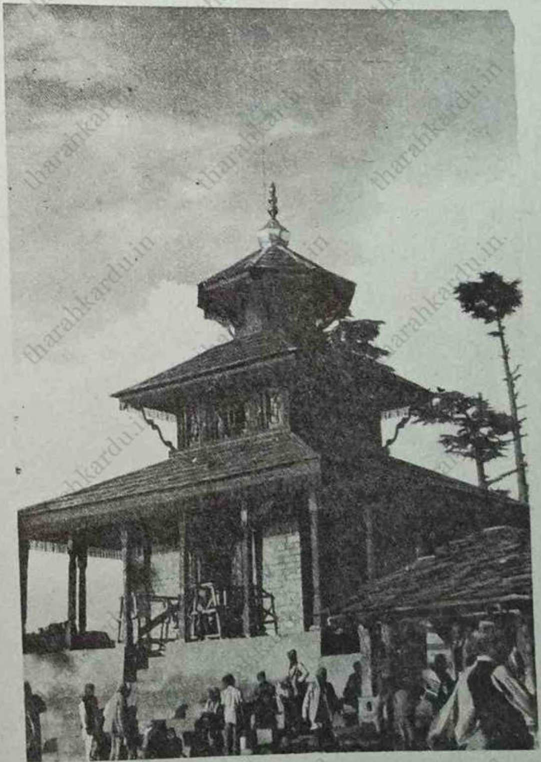

माण्डव्य ऋषि की तपोभूमि

डा० विद्या चन्द ठाकुर

व्यास और सुकेत नदी की जलधाराओं के पुण्य संगम के आर-पार आबाद मण्डी नगर इस समय हिमाचल प्रदेश के मण्डी ज़िला का मुख्यालय है और स्वतन्त्रता से पहले यही स्थल मण्डी रियासत की राजधानी था । इस ऐतिहासिक नगर के नामकरण से सम्बन्धित अनेकों किम्बदन्तियां प्रचलित हैं। मण्डी नगर की स्थिति तो यह प्रमाणित करती है कि यह स्थान एक ओर यारकन्द, तिब्बत, लद्दाख और दूसरी ओर पंजाब के मैदानी भागों के लगभग केन्द्रीय स्थान पर पड़ता है जो कि पिछले समय में दोनों ओर के व्यापारियों के लिए आदान-प्रदान का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। इसी विशिष्टता के कारण यह स्थान "व्यापार केन्द्र" के बोधक शब्द "मण्डी" नाम से विख्यात हुआ ।

परन्तु, एक अन्य किम्बदन्ती के अनुसार मण्डी नगर का नामकरण "माण्डव्य" शब्द से जुड़ा है। माण्डव्य एक भार्गव गोत्रीय ऋषि हुए हैं। जिसका वर्णन मत्स्य पुराण के गोत्र प्रवर निरूपण प्रसग में भृगुवंश की परम्परा के अन्तर्गत भार्गव गोत्रीय मण्ड, माण्डूक, फेनप, स्तनित, स्थालपिण्ड, शिखावर्ण शार्कराक्षि आदि ऋषियों के साथ किया गया है--

मण्डमाण्डव्यमाण्डूकफेनपाः स्तनितस्तथा।
स्थालपिण्डः शिखावर्णः शार्कराक्षिस्तथैव च ।। ।95/2। ।।

महाभारत में माण्डव्य ऋषि का एक आख्यान आता है कि पूर्व काल में माण्डव्य नाम के एक ब्राह्मण थे, जो सब धर्मों के ज्ञाता, सत्यनिष्ट एवं तपस्वी थे--

बभूव ब्राह्मणःकश्चिन्माण्डव्य इति विश्रुतः।
धृतिमान् सर्वधर्मज्ञः सत्ये तपसि च स्थितः ।। ।06/2 ।।

अर्थात् पूर्वकाल में माण्डव्य नाम से एक ब्राह्मण हुए, जो धैर्यवान, सब धर्मों के ज्ञाता सत्यनिष्ठ एवं तपस्वी थे। एक बार वे अपने आश्रम के पास दोनों बाहों को ऊपर उठाकर मौन साधना के साथ कठोर तपस्या कर रहे थे। कुछ लुटेरे जिनका पीछा राजपुरूषों द्वारा किया जा रहा था, इस ओर आए। लुटेरों को बचाव का उपाय कुछ न सूझा तो वे चोरी का माल आश्रम में छिपा कर आगे भाग निकले। राजपुरूष भी थोड़ी देर बाद वहीं पहुंचे तो उन्होंने ऋषि से पूछा कि जो चोर लुटेरे यहां से आए थे, वह

किस ओर को गए हैं। माण्डव्य ऋषि उनसे कुछ न बोले और अपनी तपस्या में लीन रहे। राजपुरूषों को मुनि पर संदेह हुआ । उन्होंने आश्रम में चोरी खोजने का प्रयास किया और वहीं चोरी का माल मिल गया। राजपुरूषों ने ऋषि को बांधा तथा राजा के पास उपस्थित करवा कर सारा वृतान्त कह सुनाया । राजा ने प्राणदण्ड का आदेश दिया । उसी के अनुसार वे शूली पर चढ़ा दिये गये। महामुनि माण्डव्य बहुत दिनों तक शूली के अगले भाग में अविचलित बैठे रहे। जब पहरेदारों ने इन्हें ज्यों की त्यों स्थिति मे देखा तो उन्होंने यह बात राजा को सूचित की। राजा शूली स्थल पर गया । वहां पर सारा ऋषि समाज पहुंचा हुआ था उन्होंने राजा को माण्डव्य ऋषि की तप श्रेष्ठता के बारे में बतलाया। राजा ने अज्ञानवश अपराध के लिए ऋषि से क्षमा मांगी और उन्हें शूली पर से उतरवा दिया उतरते हुए शूली की नोक टूट कर उनके पांव मे घुस गई। यह नोक जिसे संस्कृत में "अणि" कहते है, बहुत उपाय करने पर भी नहीं निकल सकी। तब से माण्डव्य ऋषि को "अणि माण्डव्य के नाम से भी जाना जाता है। इस शूली अणि की पीड़ा इन्हें निरन्तर सताती रहती थी। एक बार धर्मराज से इन्होंने पूछा "महाराज" मुझे यह किस पाप का फल मिल रहा है? धर्मराज ने बतलाया--"जब तुम बालक थे, उस समय एक फतिंगे के पिछले भाग में तुम ने सींक घुसेड़ी थी। उसी का फल तुम्हें यह मिल रहा"। माण्डव्य ऋषि ने कहा कि एक अनजान स्थिति मे बालक द्वारा की गई भूल पर दिया गया यह दण्ड धर्म-शास्त्र विरूद है। इस अन्याय के लिए तुम दासी पुत्र बनोगे। धर्मराज उसी शाप के फलीभूत विदुर के रूप में दासी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। माण्डव्य ऋषि ने एक धर्म मार्यादा भी स्थापित की कि चौदह वर्ष की आयु. तक अबोध स्थिति में की गई भूल पाप नहीं मानी जाएगी। उससे अधिक की आयु में पाप करने वाला ही पाप का भागी होगा-

आ चतुर्दशकाद वर्षान्न भविष्यति पातकम
परतःकुर्वतामेवं दोष एवं भविष्यति।। ।07/17।।

महामुनि माण्डव्य किसी समय हिमालय भू-भाग के वर्तमान मण्डी नगर में आए। उन्होंने यहां एक महाशिला पर बैठ कर कठिन तपस्या की। यह महाशिला इस समय राजकीय बल्लभ महाविद्यालय के समीप में व्यास नदी की जलधारा के मध्य स्थित है। बाद में इसी शिला पर गुरू गोबिन्द सिह जी भी साधना लीन रहे हैं। बड़ी बड़ी बाढ़ों के प्रकोप भी इस शिला को नहीं हिला सके है। यह माण्डव्य शिला "कोलसरा की चटटान" के नाम से भी जानी जाती है। ऐसा अनुमान है कि पहले माण्डव्य शिला व्यास नदी के तट पर थी और उसके साथ ही एक सरोवर था, जिसमें कमल खिलते थे। यह "कमल-सरोवर" ही कालान्तर में ध्वनि परिवर्तन से "कोलसरा" नाम को प्राप्त हुआ ।

माण्डव्य ऋषि के नामकरण के सम्बन्ध में भी मण्डी में एक जनश्रुति प्रचलित है। कहते हैं कि त्रिलोकीनाथ शिव जब हिमाचल राजा के घर से पार्वती को विवाह कर कैलाश धाम ले जा रहे थे तो मण्डी पहुंचने पर वे सृष्टि संचालन के किसी आवश्यक कार्य से बारात को वहीं छोडकर स्वय कैलाश जा पहुंचे। कई दिन बीत गए। शिव जी लौट के नहीं आए पार्वती रोने लग पड़ी। उस समय एक तेजस्वी ऋषि शिव-मण्डप में आए और उन्होंने विधि-विधान से अनुष्ठान कर के शिव जी का आवाहन किया। थोड़ी ही देर मे शिव जी वहां उपस्थित हो गये। सारा वातावरण प्रसन्नता से झूम उठा । पार्वती ने महर्षि का नाम जानना चाहा। महर्षि ने कहा माता! "त्रिलोकीनाथ मुझे जिस नाम से पुकारे, वही मेरा नाम होगा।" शिव जी बोले-"तुम ने मेरे मण्डप में पुरोहित का सद्कर्म निभा कर पार्वती को चिन्ता मुक्त किया है। अतः तुम जगत मे महर्षि मण्डप के नाम से जाने जाओगे। यही नाम बाद में बदल कर माण्डव्य नाम से प्रसिद्ध हो गया। महर्षि माण्डव्य के इस लोक श्रेष्ठ कार्य की महानता से इस स्थान का नाम भी मण्डप से माण्डव्य और फिर बदलते बदलते मण्डी हो गया तथा आज भी इस ऐतिहासिक नगर को मण्डी कहते हैं।

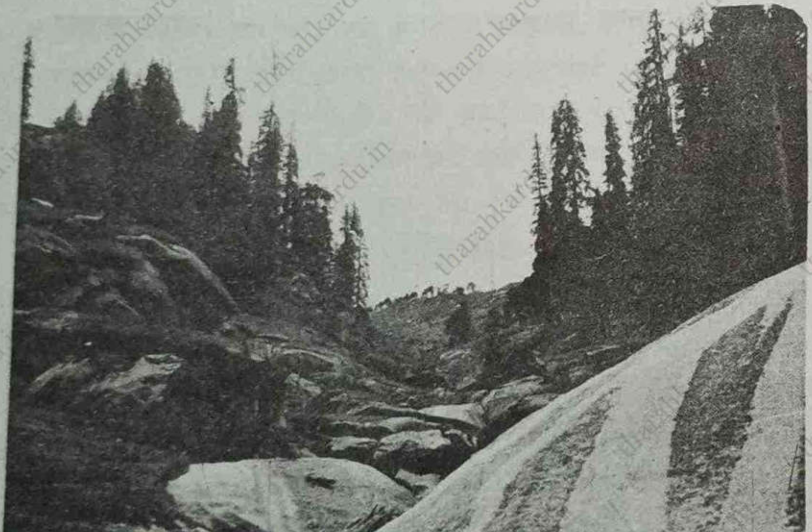

बूढ़ा केदार जंजेहली मण्डी

विजयेश्वर विश्वास

डॉ० विद्या शारदा

गीता में यह बिलकुल सत्य कहा गया है कि जब भी संसार के किसी भी भाग में अधर्म का बोल-बाला होता है निर्दोषों को सन्तप्त किया जाता है तो उनकी रक्षा के लिए भगवान स्वंय किसी न किसी रूप में अवतरित होते हैं। एक समय जुब्बल रियासत में भी असुरों ने भोली-भाली जनता को बहुत सताया। नशिरा नामक असुर तथा उसके साथी न केवल पशुओं का ही अपितु मानव का भी भक्षण करने लगे। पीड़ित जनता ने रक्षार्थ बार-बार देवताओ की पूजा-अभ्यर्चना करके उनका आह्वान किया। दन्तकथा प्रसिद्ध है कि जब द्वापर-युग में श्री कृष्ण ने असुरों का संहार किया तो कुछ ने माफी मांग कर उत्तर की पहाड़ियों में निवास करने की आज्ञा ली। उन्हें इस शर्त पर कि वे देवो एवं मानवो को तंग नही करेंगे आज्ञा दे दी गई। कुछ समय तक तो वे उस आदेश को मानते रहे परन्तु बाद मे फिर उन्होंने अपना आतंक फैलाना प्रारम्भ कर दिया।

उन निरपराध प्राणियों की रक्षा के लिए शिव के आर्शीवाद से दैव गुणों-युक्त भूकड़ू का पुत्र शिरगुल पैदा हुआ जिसने राज्य छोड़ कर चूड़ चांदनी नामक पवित्र पर्वत को अपना वास बनाया तथा सभी इन्हें चूड़ेश्वर के नाम से पूजने लगे। नशिरा के त्रास से त्रस्त जनता चूड़ेश्वर की शरण में गई जब उन्होंने उसके कुकर्मों की कथा सुनी तो उन्हें बहुत क्रोध आया और नशिरा पर बिजली गिरा दी। उसी बिजली से एक प्रतिमा उत्पन्न हुई और वह जुब्बल रियासत केहामल परगने के सरांह नामक गांव में गिरी। वहां पर उसी समय लोगों ने बहुत श्रद्धा के साथ मन्दिर बनाकर उस मूर्ति की स्थापना की तथा उसे अपना रक्षक समझकर "बिजट" महाराज के नाम से पूजने लगे। घनी जटाओं वाले शिव के अंश से अवतरित, बिजली से उत्पन्न, विजय का ईश सच्चा गुरू यह बिजट विजयेश्वर, विजयेश, सत्यगुरु, भूकड़ेट{भूकड़ू राजा के खानदान का} कई नामों से अभिहित किया जाता है। जहां तक इसकी कीर्ति तथा यश का प्रश्न है यह केवल तहसील चौपाल की देवभूमि पर ही प्रसिद्ध नहीं अपितु जिला शिमला, सिरमौर यहां तक कि उत्तर प्रदेश के जौंसार आदि क्षेत्रों की जनता इसकी मन्नत करती है। आज भी लोग हजारों की संख्या में इसके दर्शन के लिए आते हैं। शिमला की सुदूर पहाडियों से घिरे हुए सराहनीय सरांह नामक स्थान पर बिजट महाराज का मनमोहक मन्दिर

अपनी अद्वितीय छटा बिखेरता हुआ छत पर सुशोभित स्वर्णिम अण्डे की आभा से सदैव देदीप्यमान रहता है।

इस मन्दिर का निर्माण कई वर्षों पूर्व किया गया था। इसकी कलाकारी, नक्काशी तथा सिक्कों से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इसका निर्माण काल 17वीं शताब्दी का अन्त या 18वीं का प्रारम्भ रहा होगा। यह मन्दिर नौ मजिलों का है लोग नो मजिल वाले मन्दिर को "नौपुरिया" नाम से भी सम्बोधित करते हैं। इसकी तीन पुर पृथ्वी के नीचे तथा छः ऊपर है। इसकी दो इमारतें साथ-साथ ही बनाई गई थी। पहले देव-स्थापना दायीं ओर वाली इमारत मे की गई थी बाद में उसका स्थानान्तरण दूसरी इमारत में किया गया। मन्दिर के साथ ही यात्रियों के तथा मन्दिर-कर्मचारियों के रहने के लिए सराये भी बनाई गई हैं। मन्दिर की दोनों भव्य तथा विशाल इमारतों पर शुद्ध सोने के दो बड़े-बड़े गोलाकार सुराहीनुमा अण्डे लगे हुए हैं। पतला हिस्सा छत की ओर तथा गोल ऊपर की ओर होने के कारण वे प्रतिदिन सूर्य के उदित होते ही अपनी स्वर्णमयी रश्मियों की चमक चारों ओर बिखेरते हैं। इन्हें देखकर ऐसा अनुभव होता है कि ये अपनी शुद्ध चमक से नित्य प्रति लोगों के हृदय की कलुपता को दूर करके उनमें सदैव नई उमग, शुद्ध विचार, प्रगाढ़ास्था एव नवोत्साह भरते हैं। विजयेश लोगों के कण-कण मे व्याप्त है। इसे धन-धान्य, पुत्र-पौत्र , सुख-सम्पदा, लाभ, उन्नति सभी का दाता माना जाता है ।भोली-भाली पहाड़ी गांव की जनता इसे अपना जनक मानकर अपना तथा अपनी सम्पति का रक्षक मानती है। लोग अपनी दिन-चर्या का शुभारम्भ इसका नाम और आशीर्वाद लेकर ही करते हैं। यह लोक जीवन के साथ सासों की भांति जुडा हुआ है। निःसन्तान सन्तान की कामना करते हुए इसकी मनौतिया मानते हैं। प्रत्येक नव कार्य का शुभप्रारम्भ इसका नाम लेकर ही किया जाता है। फसल पकने पर सर्वप्रथम गेहूं, धान आदि के बाले मन्दिर में चढ़ाई जाती है। लोगों के हृदय में इतना गूढ़ विश्वास है कि यदि कोई बिमार पड़ जाता है तो डाक्टर के द्वार से पहले विजयेश्वर का द्वार खट-खटाया जाता है उसके पश्चात औषधि उपचार किया जाता है। देवता के मन्दिर में जाकर देवता की पूछ की जाती है। एक व्यक्ति जो गूरू होता है उसमें देवता बुलाया जाता है। वह व्यक्ति हाथ धोकर पैरों के भार बैठ जाता है। आंख बन्द कर देता है। जो लोग देवता से कुछ पूछना चाहते हैं वे कहते हैं--"कर देवा मेरा साहब अवतार कर,सता ईश्वर भूकडेट का अवतार" अर्थात् वे सच्चे मन से हाथ जोड़ कर देवावतार को बुलाने की विनती करते हैं फिर वह व्यक्ति कांपते हुए सिर पर से टोपी गिरा कर देव-वचन बोलना प्रारम्भ कर देता है। सब सचाई सामने ला देता है तथा व्यक्ति को रक्षा का वचन देता है। बाद में वह व्यक्ति फिर पहली स्थिति में आ जाता है। उसने क्या कहा यह वह पुनः पूछने पर नहीं बता सकता

है। इसमें सचमुच अद्वितीय शक्ति है । एक बार एक चोर चोरी करने गया। जब वह मन्दिर के अन्दर की ओर जाता तो उसकी आँखों से दिखाई देना बन्द हो जाता है लेकिन बाहर आने पर उसे दिखाई देने लग पडता,तब उसने गाय के सींग से देवशक्ति को भ्रष्ट करना चाहा परन्तु वह सींग भी आकाश की ओर उड़ गया आखिर वह चोर बिजट की शक्ति के सामने हार मान कर वापिस चला गया ।

मेरे सामने की घटना है। वहां सरांह में बिजट महारजा की शांत थी। कशार{प्रसाद} के लिए रोज शुद्ध घी का प्रयोग किया जाता था। एक दिन बनाने वाले के मन में बेईमानी आ गई उसने चार किलो घी छुपा लिया । कुछ समय बाद हमारे ही समक्ष उस व्यक्ति का बच्चा खाली कड़ाही में गिर गया सिर पर चोट लगी और खून बहने लगा । देवता के पूछने पर उसने सब कुछ बता दिया और वह बावर्ची अपना दोष स्वीकार करके क्षमा-याचना मांगने लगा। एक व्यक्ति ने बिजट की अशर्फी चुरा ली थी वह पागल ही हो गया था। विभिन्न प्रकार की मनौतियां मानने पर भी वह पूर्णतया ठीक नहीं हुआ । बिजट महारजा सच्चों का ही सच्चा साथी है, दुर्जनों दुष्टों तथा धूर्तों को कभी क्षमा नहीं करता है । जनता का अटूट विश्वास मेरे विचार में अन्ध विश्वास नहीं अपितु यथार्थ है। विजयेश्वर की शक्ति सचमुच विश्वसनीय है। बिजट को (Lightning God) भी कहा है इसकी शक्ति रूपी विद्युत लहर सब प्रकार की दुष्टताओं एव दुर्जनताओं की विनाशक है तथा जन-हृदय में बैठे अपने अटूट विश्वास की पोषक है। विजयेश्वर की अद्वितीय द्युति जहां एक ओर सच्चे भक्तों के हृदय में प्रेम तथा विश्वास की ज्योति जलाकर उन्हें जीवन यापन करने का आधार देती है वहां दूसरी ओर दुर्जनों के दुष्कर्मों को प्रकाशित कर उन्हें विनष्ट भी करती है। यदि किसी के परिवार का सदस्य किसी कारण मानसिक सन्तुलन खो बैठता है तो बिजट महाराज ही ऐसा चिकित्सक है कि उसकी मन्नत करने पर वह ठीक हो जाता है। समाज में प्रचलित "पजू" नामक लोकगीत में एक परिवार की कथा के माध्यम से इसकी पुष्टि होती है। यह केवल लोकगीत नहीं अपितु एक सच्ची घटना है जो बाद में गीत के रूप में परिवर्तित की गई। एक परिवार पेजू नामक छोटा भाई भेड़ों को लेकर सर्दियों में रेणुका गया वहां पर शुत्रओं ने उसका खून कर दिया । जब उसकी मृत्यु का पता उसके बड़े भाई को चला तो वह बदले की आग में जलने लगा तथा उसी क्षण घर से निकल गया। भाई का प्रतिकार लेते हुए उसने असंख्य खून किए जिसमें दुश्मनों के साथ-साथ निर्दोष बच्चे भी थे। जब वह वापिस घर पहुंचा तो भाई के असह्य शोक तथा कुछ निर्दोषों की हत्या के कारण उसने अपना मानसिक सन्तुलन खो दिया। पेजू की पत्नी ने अपने परिवार के एक मात्र बालक की यह अवस्था देखकर अपनी नथ बिजट के थान में चढ़ाने की मन्नत करते हुए बिजट से बड़े भाई के मानसिक सन्तुलन ठीक करने की बार-बार

प्रार्थना की तथा उस लेकर देवता के "थान"{स्थान} में आई। करूणाकर जानता था कि इसकी आबाज में दर्द है। यह व्यक्ति खूनी नहीं था बनाया गया था । अतः उसने नारी की प्रार्थना सुन ली। उसका मानसिक सन्तुलन ठीक हो गया। वह पुनः पहले की भांति जीवनयापन करने लगा। यह उस समय की बात थी जब आजकल की भांति नियम,कानून अदालतें आदि नहीं हुआ करती थीं । गांव की भोली-भाली जनता देवता को ही न्यायधीश रक्षक, चिकित्सक सब कुछ मानती थी। वह विश्वास लोगों में समय के साथ-साथ बढता ही गया । आज भी बिजट को मन की इच्छा पूरी करने वाला माना जाता है।

चम्बा के लोक नाट्य

हिमाचली लोकोक्तियों में लोक जीवन

मुहावरा जहां वाक्यांश का सूचक है वहीं लोकोक्ति अपने आप में सम्पूर्ण वाक्य है जिस प्रकार कोई तन्वगी विभिन्न अलकारो को धारण कर अत्यधिक रूपसी दिखाई देने लगती है उसी प्रकार मुहावरे और लोकोक्तियां भाषा के अलंकार होते हैं जो उसे और भी अधिक लावण्यमयी बनाकर उसके रूप में निखार ला देते हैं। सजी, संवरी, लच्छेदार भाषा अपना एक विशेष महत्व रखती है। उचित अवसर देखकर कही हुई बात हृदय पट्टल पर अपने प्रभाव की कुछ ऐसी छाप छोड़ जाती है जो कभी कभी मानव जीवन में उथल पुथल मचाकर उसके जीवन के रूख को ही बदल डालती है। अर्थपूर्ण रोचकता लिए हुए सुन्दर भाषा का प्रयोग एक कला है।. समयोचित कही हुई बात अत्यन्त प्रभावोत्पादक होती है। जब यह किसी पर अपनी सीधी और तीखी चोट करती है तो वह जीवन भर के लिए शिक्षाप्रद बन जाती है।

केवल शिक्षित और सभ्य समाज की ही बात नहीं इन मुहावरों और लोकोक्तियां की लोकप्रियता तो इसी बात से आंकी जा सकती है कि लोक जन मानस भी कदम कदम पर व्यापक रूप से इनका प्रयो करना नहीं भूलता। वह गंवार है, अनपढ़ है, सभ्यता के माप दण्ड उसने सीखे नहीं है। वह ठेठ देहाती है, निश्छल और निष्कपट है। उसकी अपनी एक भाषा है जो साहित्यिक न होते हुए भी ठेठ ग्रामीण है और उसकी बोल चाल व विचारों के आदान प्रदान की एक सशक्त माध्यम है। वह जो भी बात कहेगा नये तुले शब्दों में ही कहेगा। उसकी प्रत्येक बात अनुभवों की कसौटी पर परखी हुई है और उसे झुठलाना सम्भव नहीं होता ।

हिमाचल एक पर्वतीय प्रदेश है। उसकी अपनी एक पहाडी भाषा है। यह भाषा ही उसकी पहचान का एक विशेष चिन्ह है। चाहे जनपदीय भौगोलिक परिस्थितियों की विविधताओं के कारण इसमें एक रूपता नहीं फिर भी उसकी भावभिव्यक्ति का ढंग लगभग समान रूप लिए हुए है। यहां का जन मानस धर्म भीरू है। अन्ध विश्वासों पर आधरित शकुल-अपशकुन तथा शुभ-अशुभ पर विचार करने वाला है लेकिन उसकी इसी विचारधारा के पीछे जो रहस्यात्मकता है उसे हम कैसे असत्य मान लें। यदि एक अन्वेषक के रूप में इन सभी बातों का विश्लेषण करने का प्रयास किया जाए तो शीघ्र ही यह

सिद्ध हो जाने में कोई सन्देह नहीं रहेगा कि उसकी यह कोरी कल्पनाएं नहीं बल्कि एक ठोस वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित है भले ही आधुनिक सभ्यता में रंगे इन्सान को उसकी कुछ बातें स्वीकार्य नहीं मगर उस ठेठ देहाती ने स्वंय अन्वेषक बनकर उसकी तहतक पहुंचने का प्रयास किया है, उनके कारणों की जांच पड़ताल की है निरखा परखा है और जब वे अनुभवों की कसौटी पर खरा कुन्दन सिद्ध हुई तो ही उसने जीवन में उन्हें अपनाया ।

आज हम देखते हैं जीवन के हर क्षेत्र में काम करते हुए वह मुहावरों लोकोक्तिय के माध्यम से समयानुकूल बात कहने, हंसी ठिठोली करने और व्यंग कसने मे पीछे नहीं इनका कोई शब्दकोष भी नहीं। मौखिक होते हुए भी इनका रूप व्यापक है। अबाध गति से यह चलते रहेंगे। उद्देश्य पूर्ण और सार्थकता लिए हुए जीवन में गतिशीतला उत्पन्न करना इनका प्रमुख कार्य है। लोक संस्कृति का यह महत्वपूर्ण अंग हिमाचल के जन जीवन में स्थाई रूप से ऐसा घर कर गया है कि इसे उससे किसी भी प्रकार से अलग नहीं किया जा सकता ।

समाज संस्कृति का सृजन करता है। उसका खान पान, रहन-सहन, बोल-चाल, व्यवहार आदि इसी संस्कृति के अन्तर्गत आता है। क्योंकि यह लोगों की है लोगों के लिए है और लोक जीवन से इसका अटूट सम्बन्ध रहता है। लोक जीवन में ही संस्कृति का पौधा फल फूल कर बढ़ता आया है। इस लिए ही वह लोक संस्कृति कहलाई। लोक साहित्य उसी संस्कृति का अंग है। इसके बिना वह अधूरी है, अपूर्ण है। लोक साहित्य की सबसे बडी विशेषता उसका लिपिबद्ध न होना है। यह तो विरासत में पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है। लोक कथाएं, गाथाएं, गीत, मुहावरे, लोकोक्तियां आदि सभी कुछ इसी साहित्य के अन्तर्गत आता है। हिमाचल प्रदेश में इस साहित्य का समृद्ध भण्डार है। आवश्यकता है उसे अतीत की परतों से उघाड़ कर बाहर लाने की। क्योंकि यह विवेच्य विषय लोकोक्तियां ही हैं अतः उन पर ही प्रकाश डालना अधिक युक्तिसंगत होगा। लोक जीवन में इनका व्यापक प्रयोग इस बात को सिद्ध करता है कि वह अपनी बात कहने में काफी सक्षम और समर्थ है। जीवन के कटु अनुभवों पर आधृत यह लोकोक्तिय काफी अर्थपूर्ण है। इसे जो भाव शिक्षा, व्यंग, हंसी-मजाक, जीवन को सुधारने के ढ़ंगो का सरस सजीव समिश्रण दृष्टि गोचर होता है। वह भाषा शिल्प की दृष्टि से कम उपयोगी नहीं ।

प्रायः घर से बाहर निकलने, यात्रा पर जाते समय या किसी कार्य का श्री गणेश करते समय शुभ-अशुभ का विचार प्रत्येक समाज में होता है। एक लोकोक्ति में शुभ अशुभ की यह झलक स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है।

सू, सप, सन्यार होर विधवानार,
जे अगे मिलो, ता भलकी नी बार ।

अर्थात दर्जी, सर्प, सुनार और विधवा स्त्री किसी कार्य पर जाते समय यदि रास्ते में मिल जाए तो कभी भी उस व्यक्ति का भला नहीं होता अर्थात वह कार्य कभी भी सफल नहीं होता ।

वाणी कभी कभी अनर्थ कर डालती है। गाली गलौच लड़ाई झगड़े तो आम बात हो जाती है। कभी कभी इसके भयंकर परिणाम देखने को मिलते हैं। जिहवा स्वंय तो मजे से आराम करती रहती है लेकिन मन और मस्तिष्क की अशान्ति मनुष्य को जिस प्रकार दग्ध करती रहती है वह अकथनीय है। जिहवा तू बावरी इसी का एक रूप इस प्रकार है:-

जिभे नी तुर कतुरिये, की गलाही आल बताल,
आपू ता रही भीतर, जुती खा हा कपाल ।

बृद्धावस्था आने पर शरीर नितान्त कमजोर हो जाता है। मनुष्य काम करने में असमर्थ हो जाता है। उस समय उसके पास फिर राम नाम का जाप करने के सिवाए कोई कार्य नहीं रहता ।

"हाड़े गोडे डैह गए
हुण रीम जपण नू बैह गए"।

एक जमाना था जब हरिद्वार की यात्रा अत्यन्त दुष्कर समझी जाती थी । जो परिणाम भुगतने पड़ते थे उसकी झलक देखे:-

"गंगा गए न घर रहे, सिर मुड़या पाल
लटा फटा लोके नीता, घरा जो आए खाली""।

गंगा जाने पर आदमी कहीं का भी नहीं रहता था। सिर तो मुड़ाना ही पड़ता था। पास जो होता उसे चोर-डाकू लूट लेते और बाद में बड़ी कठिनाई से जान बचाकर खाली घर आते ।

अनुभवों ने मनुष्य को जीना सिखाया है उसने हरके बात को निरखा परखा है और तभी जीवन में अपनाया है।

सावण महीने सथरे नी सईए, माघ महीने नी खाट,
तेस ते जादा पुण अथी कुण, जिने जेठ महीने लघी बाट"

सावन महीना भूमि पर विस्तर लगाने के लिए वर्जित है क्योंकि बरसात में कीड़े मकोड़ों का प्रकोप बढ़ जाता है सर्दी अधिक हो जाने के कारण माघ महीने चारपाई पर नही सोना चाहिए। जेठ महीने की भीषण गर्मी मे कोई धर्मात्मा ही यात्रा पर निकल सकता है। अन्य के वश की बात नहीं ।

कृषि ग्रामीणों के जीवन का आधार है। फसल किस तरह अच्छी उगाई जा सकती है इसके लिए उसके अपने ही तौर तरीके है जो उसके परीक्षण पर खरे उतरे है।

"डडू डबोसी कागणी, डागो डाग कपाह,

लेफा रा वुकल पाईकने, नसग छलिया रे डोहरू जा।"

मेंढक जितनी छलांग लगाता है उतने अन्तर पर कागनी और लाठी के फासले पर कपास बोनी चाहिए । मक्की इतने फासले पर बोई जाए कि आदमी रजाई ओढकर िशक पौधों के बीच से गुजर सके तभी उस फसल को श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

"बैठी मिरग सदाइध,

सुकी सीनी देओ रलाई ।"

ग्रामीण भाषा में मीरग बाघ को कहा जाता है। कहा जाता है कि आषाढ का आरम्भ बाघ बाघिन के मिन का समय होता है। यह मोसम फसल बीजने के लिए अच्छा माना गया है। अतः चाहे वर्षा हो या न हो इस समय तक बीज वो ही देना चाहिए ।

वैसे तो जबाई जबाई ही होता है लेकिन इन में भी अन्तर होता है। जहां दूर के जवाई का खूब आदर सत्कार किया जाता है वहीं घर जवाई की दशा देखने योग्य होती है :-

"दूरा रा जवाई जवाई बराबर,

नेडे रा जवाई आधा।

घरा रा जवाई गधे बरावर

जब मर्जी तब लादा ।

बड़े लागों के साथ यदि सम्बन्ध जोड़ना हो तो अपनी हैसियत देख लेनी चाहिए ।

"उन्टां कने पाणे हो धर्मचारे,

ता दरवाजे लोड़ी उथाड़े ।।"

अपना अपना ही होता है चाहे वह कैसा भी क्यों न हो वक्त पर काम तो आता है। दूसरा चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो उससे कोई लाभी नहीं :-

"दुजे री बाकी, दूरा ते झाकी,

आपणी काणी भ्यागा उठी के जगाणी"।

जब ओखलीर मे सिर दे ही दिया तो फिर मूसलो सें क्या डरना ।

"उखला मझ मूड पाणा,

ता फेरी घावा ते क्या डरना।"

चतुर व्यक्ति इशारे से ही समझ जाता है। मूर्ख को भी थोडा जोर लगाकर समझाया जा सकता है लेकिन जिस मूढ़ व्यक्ति में कोई गुण ही न हो उसे कैसे समझाया ज.ए।

कुछ व्यक्ति बडे सुस्त स्वभाव के होते हैं। जब तक वह किसी काम को करने के लिए तैयार होते हैं तब तक बात कहीं की कहीं जा पहुचती हैः-

"जौआ टाटिया करना हार सिगार
तौआ जो फुखणा सारा बजार।"

कमाए कोई खाए कोई। एक उक्ति देखिएः-

"खाओ पीओ करो नन्द,
भाण्डे माजे परमानन्द।"

समाज मे ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं जो अपनी हैसियत से अधिक दिखावा करते हैं लेकिन वास्तव में अन्दरा से खाली होते हैंः-

"खाणे जो नी पौदी गाजरा
बावा रा नाव करतार सिंघ।"

मास,खटाई, वेश्या और जुआ इन चार चीजों से जिसने परहेज नहीं किया उसे भरा हुआ ही समझना चाहिए ।

"हडरस, खटरस वेसुआ होर जुआ
हटया से बचेया, फसेया से मुआ ।"

जिन्दग्री की गाड़ी को चलाने के लिए अधाक परिश्रम करना पड़ता है। परिवारिक झझटों में फंस कर आदमी को कभी छुटकारा नहीं मिलता ।

"भुडा भडारिया कितना कर भार,
एकी मुठिया चकी दे टुजिया प्यार।"

जो व्यक्ति अपनी छोड़कर पराई चीज पर लालच करता है उसका कभी भला नहीं होता। ईश्वर भी रूढ कर उसे ठोकरे खाने के लिए छोड़ देता हैः-

"ओपणी छाडी दुजे री तक्के,
तेस जो लगे परमेशरा रे धक्के।"

इस तरह यह लोकोक्तियां जीवन्न के अनेक अनुभवों से परपूर्ण है। जन मानस में इनका प्रयोग स्वाभाविक रूप से होता रहता है। दैनिक जीवन में इनकी झलक किसी न किसी रूप मे मिलती ही रहती है। जीवन के साथ इनका इतना अधिक मेल हो चुका है कि किसी भी तरह इन्हें अलग नहीं किया जा सकता ।

केलंग का शैशुर गोम्पा

रमेश जसरोटिया

हिमाचल प्रदेश अपनी सनातनी संस्कृति के लिए तो प्रसिद्ध है ही बौद्ध संस्कृति भी किसी श्रेणी में कम नहीं आंकी जा सकती। प्रदेश का किन्नौर और लाहुल-स्पिति जिला बौद्ध धर्म प्रधान है। लोत्चा ध्रिजिन जंगबो द्वारा लगभग 993 वर्ष पूर्व स्थापित ताबो गोन्पा व इसके भित्ति चित्रों को हिमाचल की अजन्ता-एलोरा कहा जाता है। किन्नौर का कानम मठ अभी भी बौद्ध धर्म के प्राचीन धर्म ग्रंथ कंज्जुर-तंज्जुर के लिए विशिष्ट स्थान लिए हुए है। पिन घाटी के कुगरी मठ को वहां के नृत्य विशेष "बुछेन, तथा बौद्ध धर्म की एक शाखा धुजे छेम्बी छ्योकर" के कारण प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। इसी प्रकार स्पिति घाटी में और भी प्रसिद्ध बौद्ध मठ यथा "की"डकर आदि हैं। ऐसे ही लाहुल-स्पिति के मुख्यालय केलंग के पास स्थापित "शैशुर गोन्पा" अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत से स्थानीय जनों में श्रद्धा और आगंतुकों में कोतुहल उत्पन्न करने में सक्षम है।

केलंग से 2 किलो मीटर की सीधी चढ़ाई पर यह गोन्पा स्थित है। लगभग 900 वर्ष प्राचीन इस गोन्पा की सांस्कृतिक विरासत सराहनीय है। यहां बौद्ध धर्म की सम्पूर्ण शिक्षा पर लिखे ग्रंथ "कंज्जुर " की एक सौ पौथियां, दयुम की बाहर पोथियां, शिटिमिटी की चार पोथियां तथा दोहग व दो कलजंग की एक-एक पोथी सुरक्षित रखी हुई है।

इस गोन्पा के लामा लोग अधिकतर किसान है। वह धर्म कार्यों के साथ उतने ही जुड़े हुए हैं जितने की कृषि व्यवसाय से । लगभग सभी लामाओं का अगस्त माह में गोन्पा आकर इस धर्म-पोथियों को पढ़ना अनिवार्य है। यह कार्य एक सप्ताह चलता है। ये लामा बौद्ध धर्म के एक सम्प्रदाय "डुग्पा" के अनुयायी है पर'करजुत्पा'और 'उङ्मीमाया' सम्प्रदायों के अर्न्तगत के पूजा विधि विधान भी यहां सम्पन्न किए जाते हैं।

मुख्य मन्दिर में प्रविष्ट होते ही कलात्मक भव्यता चकाचौंध कर देती है। कला-कृतियों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों वे सजीव रूप में विद्यमान हैं। बांएं से दांएं रखी मूर्तियों का क्रम इस प्रकार है:-शैगे शेगुधुपा(भगवान बुद्ध) डोलमा (तारा मां), तादेन

रिम्बोछे,पूर्व प्रचारक लामा, गुरू रिम्बोछे §पद्म सम्भव§ दो मूर्तियां लामाओं की, भगवान बुद्ध का दूसरा रूप, देव गैसो,भगवान बुद्ध का तीसरा रूप फिर दो मूर्तिया लामाओ की, छाना दोर्जे रि छिन आपो, पद्म सम्भव का एक रूप, चरज़ी §शान्ति देवी§" व डोलमा का एक अन्य रूप ।

डोलमा की यह मूर्ति धातु -निर्मित है शेष सभी मृण मूर्तियां हैं जिन्हें विभिन्न रगों से रंगकर सजीवता प्रदान करने का सुन्दर प्रयास किया गया है। इन सभी मूर्तियों के मध्य मणी पद्मे का "माने दुड•थुर" रखा गया है।

इस क्षेत्र के लामाओं द्वारा विशेष रूप से दो प्रकार के नृत्य किए जाते हैं,बकछम और जुरछम । बकछम का अर्थ है मुखौटे पहनकर उछलते हुए नृत्य और जुरछम जोश के साथ तीव्रगति के नृत्य को कहते हैं। तिब्वती बकछम में "शिञ्ने"§जानवर के सींग वाला मुखौटा§ "ट्यू" §बन्दर का मुखौटा§भालू§ आदि की आकृति, "लेगुन" जै § नौ मुख वाला§ तथा "गुलउ• आदि के मुखौटों का प्रचलन है 'गुलउ•' मुखौटे को मुख्य नर्तक पहनता है। "जुरछम" के मुखौटे "बकछम" से नितांत भिन्न होते हैं और परिधान भी । इस नृत्य को सिरजा §लम्बी टोपी§ जो काली भेड़ की खाल से बनी होती है, पहनकर किया जाता है।

बकछम के विषय में प्रचलित बौद्ध कथा इस प्रकार है:- प्राचीन समय में तिब्बत में एक राजा §लुड•दर्मा § नाम से हुआ । कहा जाता है कि यह बड़ा दुष्ट और अत्याचारी था और इसके सिरपर सींग उगे थे। मनुष्य के सींग होने को अपशुकन माने जाने के कारण राज घराने के लोगों ने लुड• दर्मा के सींग कटवा कर उनकी जडों को बालों में छिपा दिया, ताकि जनता को इस बात की जानकारी न हो । राजा के बाल संवारने के लिए प्रतिदिन एक लड़की को बुलाते और कंघी करवाने के पश्चात् उसे मार देते ताकि सींगो का रहस्य जनता में प्रगट न हो ।

एक बार जिस नई लड़की को राजा के बालों को संवारने हेतु बुलवाया गया वह इतनी खूबसूरत थी कि उसके चेहरे पर नजर नहीं टिकती थी लुड•दर्मा के बालों पर कंघी करने के पश्चात उस लड़की को इस शर्त पर छोड़ दिया कि वह सींग वाली बात किसी को नहीं बताएगी अन्यथा उसे उसके परिवार सहित समाप्त कर दिया जाएगा । इस आश्चर्यजनक बात को छिपा पाना उसके लिए सम्भव न था पर मृत्यु के भय के कारण वह किसी को बता नहीं सकती थी । अंत में उसने एकांत स्थान पर यह बात घास को बताकर अपने दिल का बोझ हल्का किया ।

एक लामा विचरण करते हुए उस स्थान पर पहुंचा जहां लड़की ने घास को सींग वाली बात बताई थी । घास ने उपयुक्त पात्र जान कर उक्त रहस्य लामा के सामने प्रगट

किया। राजा के सिर सींग उगे होने का अपशकुन मान उस लामा ने यह बात स्थानीय जनों में फैला दी । काफी विचार विमर्श के पश्चात यह निर्णय लिया गया कि इस राजा को समाप्त कर दिया जाए। यह कार्य ल्हलुख पल्दोर्जे को सौंपा गया । ल्हलुख पल्दोर्जे ने अपने कुछ साथियों सहित एक पहरावा विशेष जिसमें तीर और कमान आसानी से छिपाया जा सके और अवसर मिलने पर वार किया जा सके, धारण किया। इस नृत्य की इस विधा के दौरान सभी नर्तकों द्वारा काली टोपियां पहनी गई ।इसी कारण नृत्य की इस विधा को शानक शा का अर्थ टोप और नक का अर्थ है काला" और राजा को समाप्त कर उससे प्रजा को मुक्ति दिलाई ।

ऐसी कितनी ही कथाएं और कलात्मक विरासत इस क्षेत्र में सुरक्षित पड़ी है और प्रदेश को गौरव प्रदान कर रही है। आवश्यकता इनकी खोज कर लोगों को परिचित कराने की है ।

चन्द्रताल - लाहौल के वर्फीले पहाड़ों तले ।

संगीत, नाटक और साहित्य के क्षेत्र में अकादमी की गतिविधियां

अक्टूबर, 1988 से दिसम्बर, 1988 तक

दिनांक 2 अक्तूबर, 1988 को अकादमी द्वारा राज्य संग्रहालय के प्रांगण में गांधी जयन्ती के अवसर पर शिमला जिले की ठियोग तहसील से आए चिखड़ेश्वर के सांस्कृतिक दल के नृत्य का अयोजन किया गया । इस कार्यक्रम का अयोजन विशेष रूप से "चिखडेश्वर देवता" के बारे प्रलेखन हेतु किया गया । कार्यक्रम के मुख्य अतिथि डॉ0 बी0 सी0 ओहरी पूर्व राज्य संग्रहालयाध्यक्ष थे। कार्यक्रम आरम्भ होने से पूर्व प्रांगण में स्थापित महात्मा गांधी की प्रतिमा को फूल मालाएं पहना कर सभी उपस्थित जनों ने श्रद्धांजलि अर्पित की। तत्पश्चात लगभग एक छोटे से नर्तक दल ने नृत्य का कार्यक्रम प्रस्तुत किया और शहनाई वादक ने लोकगीत गाते हुए शहनाई वादन प्रस्तुत किया। उसी दिन साय छः बजे गेयटी थियेटर शिमला में अकादमी स्थापना दिवस मनाया गया। इस अवसर पर सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया गया । 'कार्यक्रम' का शुभारम्भ श्री मदन द्वारा एकल वायलन वादन से हुआ । उसके पश्चात नृत्य के कार्यक्रम हुए। इस कार्यक्रम का मुख्य आकर्षण था श्री जीतराम पथिक के गीत और ग़ज़ल। कार्यक्रम के अन्त में चिखड़ेश्वर सांस्कृतिक दल द्वारा नृत्य प्रस्तुत किया गया ।

प्रथम नवम्बर, 1988 को अकादमी के तत्वावधान में पहाड़ी भाषा दिवस का आयोजन बचत भवन, हमीरपुर में किया गया । कार्यक्रम विभाजन के अन्तर्गत यह आयोजन इस वर्ष भाषा एवं संस्कृति विभाग द्वारा अकादमी को हस्तान्तरित किया गया। यह आयोजन दो सत्रों में हुआ । प्रथम सत्र में प्रातः 11-00 बजे लेखक गोष्ठी आयोजित की गई। इस सत्र में डॉ0 शमी शर्मा द्वारा "हिमाचली (पहाड़ी) में निबन्ध का विकास तथा उपलब्धियां" विषय पर शोध पत्र प्रस्तुत किया गया । तत्पश्चात उस पर विचार विमर्श हुआ। डॉ0 पीयूष गुलेरी ने अपने विचार व्यक्त करते हुए सुझाव दिया कि पहाड़ी भाषा दिवस पर कम से कम शोध पत्र पहाड़ी में लिखे व प्रस्तुत किये जाने चाहिये। जब हम पहाड़ी में विकास एवं प्रचार प्रसार की बात करते हैं तो हमें पहाडी में बोलने में हिचकिचाना नहीं चाहिए। डॉ0 वेद प्रकाश अग्नि ने सुझाव दिया कि अकादमी द्वारा पहाड़ी भाषा के विकास के लिए नई योजनाएं संचालित की जानी चाहिए । डॉ0 ब्रह्मदत्त

शर्मा ने सुझाव दिया कि ऐसे आयोजन ग्रामीण क्षेत्रों में भी किये जाने चाहिए जिससे पहाड़ी भाषा के विकास प्रसार के लिए जनमत तैयार किया जा सके। अन्य विद्वानों ने भी अपने अपने विचार और सुझाव रखे ।

द्वितीय सत्र 2-00 बजे अपरान्ह आरम्भ हुआ इस सत्र में डॉ0 रीता शर्मा ने "हिमाचली{पहाडी} भाषा के विकास में टांकरी लिपि का योगदान" विषय पर शोध पत्र प्रस्तुत किया। इस अवसर पर बताया गया कि पहाड़ी भाषा में टांकरी लिपि का प्रथम अभिलेख सन् 1330 मे लिखा गया था। इस सत्र के अध्यक्ष, प्रो0 नारायण चन्द पराशर सांसद और उपाध्यक्ष अकादमी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में अकादमी की योजनाओं और गतिविधियों से उपस्थित जनों को अवगत करवाया। उसी दिन सांय 4-00 बजे रूप सिंह फूल संस्कृति सदन का उद्घाटन माननीय राजस्व मन्त्री श्री धर्मसिंह जी ने किया और सांय छः बजे पहाड़ी कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया। कवि सम्मेलन में डॉ0 पीयूष गुलेरी, डॉ0 गौतम व्यथित, नवीन हल्दूणवी, प्रीतम चन्द प्रीतम, श्री गर्ग सागर पालमपुरी, भगत राम मुसाफिर आदि लब्ध प्रतिष्ठत कवियों ने श्रोताओं को यन्त्रमुग्ध कर दिया ।

केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी दिल्ली तथा हिमाचल अकादमी व जिला प्रशासन किन्नौर द्वारा रिकांगपिओ में दिनांक 5 से 7 नवम्बर, 1988 की अवधि में एक जनजातीय समारोह का आयोजन किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य हिमाचल प्रदेश के जनजातीय क्षेत्रों की निष्पादन कलाओं बारे प्रलेखन तथा प्रचार प्रसार करना था। इस अवसर पर भाषा एवं संस्कृति विभाग द्वारा तैयार किये गये किन्नौर के लोकगीतों की एक कैसेट 'फूल्याच', 1988 का विमोचन भी किया गया । समारोह में स्पिति क्षेत्र से लोसर, बुछेन तथा छम नृत्य दलो को आमंत्रित किया गया। किन्नौर के छगरग क्षेत्र के मालीन गाव के दल को उस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने के लिए पहली बार आमंत्रित किया गया। बूछन दल हिमाचल प्रदेश का दुर्लभ सांस्कृतिक दल है। बूछेन बौद्ध धर्म सम्बन्धी जातक कथाओं का मंचन करते हैं तथा मंत्रों के माध्यम से अन्तर शक्ति जागृत करते हैं। ताबो के लामाओं द्वारा छम नृत्य का प्रदर्शन दिया गया। इस नृत्य का आनुष्ठानिक महत्व है और इसे केवल लामाओं द्वारा ही किया जाता है। लोसर गांव के दल मे हाथी, याक तथा डैकोर स्वागों का प्रदर्शन किया। इनके अतिरिक्त चम्बा तथा आकाशवाणी शिमला के कलाकारों ने भी कार्यक्रम प्रस्तुत किये । इस अवसर पर हिमाचल अकादमी द्वारा किन्नौर क्षेत्र के कला सम्बन्धी उपकरणों , लोक नृत्यों तथा सांस्कृतिक धरोहर से सम्बन्धित अन्य सामग्री का प्रदर्शन किया गया । केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा कला-विधाओं पर एक फिल्म तैयार की गई।

दिसम्बर, 1988 को महामहिम राष्ट्रपति श्री वेंकटरमण के सोलन आने पर अकादमी द्वारा चम्बा के लोक कलाकारों द्वारा एक सांस्कृतिक कार्यक्रम डॉ0 वाई·एस· परमार वानकी एवं उद्यानिकी विश्वविद्यालय नोणी में करवाया गया ।

16 दिसम्बर से 26 दिसम्बर तक नेशनल बुक ट्रस्ट नई दिल्ली के सहयोग से एक पुस्तक प्रदर्शनी का आयोजन लखनऊ उत्तर प्रदेश में किया गया। इस अवसर पर हिमाचल लेखकों की तथा हिमाचल के बारे में लिखी गई पुस्तकों की प्रदर्शनी अकादमी द्वारा लगाई गई ।

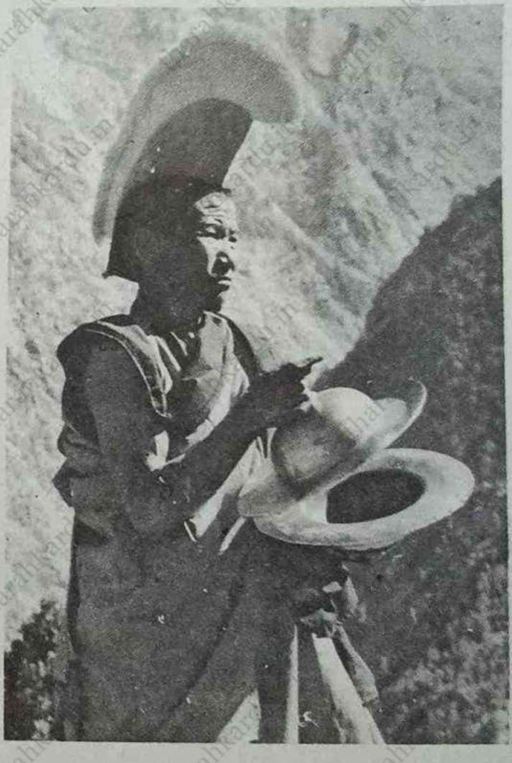

पारंपरिक वेशभूषा में लामा बूगजल बजाते हुए।

ग्रामदेव

HAACL पंजीकरण संख्या-28271/75

कुल्लू घाटी का विहंगम दृश्य

सचिव हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी, शिमला द्वारा प्रकाशित तथा
प्रोग्रेसिव ऑफसेट प्रिन्टर्स, गगल, कागड़ा फोन न·54 द्वारा मुद्रित

tharahkardu.in